साहित्य-विवेचन

प्रो० जगन्नाथप्रसाद मिश्र

प्रकाशक

श्रीअजन्ता प्रेस लिमिटेड

पटना—४

मूल्य २॥)

दो शब्द

'साहित्य की वर्त्तमान धारा' के बाद मेरे स्फुट साहित्यिक निबंधो का यह दूसरा संग्रह है। इसमें साहित्य के विभिन्न स्वरूपो पर मैंने समालोचनात्मक दृष्टि डाली है। 'कला के सम्बन्ध मे गाँधीजी का दृष्टिकोण' एक स्वतंत्र लेख होने पर भी साहित्य-कला-विषय से ही सम्बधित है। संग्रह के अधिकांश लेख पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित हो चुके है।

मै नहीं जानता कि मेरे इन निबंधो का साहित्यिक मूल्य क्या होगा, फिर भी इनके द्वारा एक विस्तृत परिधि के साहित्यानुरागियो एवं साहित्य-समीक्षको के समक्ष यह सामग्री उपस्थित की गई है। साहित्य के संबंध मे मान्यताएँ एवं धारणाएँ ज्यो ज्यो बदलती जा रही है त्यो-त्यो उसका क्षेत्र भी व्यापक होता जा रहा है। सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियो के संघर्ष के फलस्वरूप हमारे जीवन की समस्याएँ क्रमशः जटिल से जटिलतर हो रही हैं और उन्ही समस्याओ के प्रकाश मे आज साहित्य को भी नये दृष्टिकोणो से देखा और समझा जा रहा है। साहित्य के विद्यार्थियो और सुधी पाठकों को इन निबन्धो मे साहित्य-सम्बन्धी विभिन्न दृष्टिकोणो का यत्किञ्चित् आभास मिलेगा। फलतः प्रस्तुत संग्रह द्वारा यदि उन्हे इस विषय के चिन्तन एवं मनन की कुछ भी प्रेरणा मिली तो लेखक अपने को कृतार्थ समझेगा। इसी आशा और विश्वास के साथ यह संग्रह इस रूप में साहित्य-समीक्षको के हाथो मे जा रहा है।

—जगन्नाथप्रसाद मिश्र

अनुक्रमणिका

आधुनिक साहित्य का रूप

जो लोग साहित्य मे यथार्थवाद के समर्थक है वे भी इस बात मे सहमत हुए बिना नही रहेगे कि घटनाओ का ज्यो-का-त्यो चित्रण कर देना साहित्य नही हे । साहित्य फोटोग्राफी नही है । घटनाओ का विवरणमात्र उपस्थित कर देना ममाचारपत्रो का काम है । इसी प्रकार यदि कोरी कल्पना एव भावुकता ही साहित्य का उपादान होती तो राजा-रानी, दैत्य-दानव और परियो की कहानियो का स्थान भी साहित्य के ही अन्तर्गत होता । इतिहास, यात्रावर्णन, पत्रकारिता और तिलस्मी कहानियो को साहित्य की पदमर्यादा प्राप्त नही है, केवल इस कारण से कि साहित्य मे दृश्यो एव घटनाओ का चमत्कारपूर्ण वर्णनमात्र नही होता । उसमे साहित्यकार की गभीर अनुभूतियो का प्रकाश होता है । आँखो के सामने घटनेवाली घटनाएँ चाहे कितनी ही आश्चर्यजनक और कल्पनाएँ चाहे कितनी ही मनोरम एव चमत्कारपूर्ण क्यो न हो, किन्तु जबतक उनके साथ साहित्यकार की अनुभूतियाँ सश्लिष्ट नही होगी तबतक उन्हे सच्चे अर्थ मे साहित्यिक रूप प्राप्त नही हो सकता । साहित्य मे आदर्श और यथार्थ को लेकर वाद-विवाद का अन्त होता हुआ नही दिखायी पडता । एक दल साहित्य को आदर्शप्रधान रूप देना चाहता है, दूसरा यथार्थवादी रूप । एक की दृष्टि मे आस्कर वाइल्ड श्रेष्ठ साहित्यकार हे, दूसरे की दृष्टि मे इब्सन, बर्नार्ड शा, गोर्की आदि । किन्तु वादो के विवाद से ऊपर उठकर जो लोग इन सब साहित्यकारो की रचनाओ पर विचार करेगे उन्हे जान पडेगा कि दोनो प्रकार की

रचनाओं में किसी का भी साहित्यिक मूल्य अस्वीकार नहीं किया जा सकता। सच तो यह है कि साहित्य का किसी वाद के आधार पर श्रेणी-विभाग करना सर्वथा असंगत है। किसी रचना को जो सब गुण साहित्य की मर्यादा प्रदान करते हैं वे आदर्शप्रधान रचना में भी हो सकते हैं और यथार्थप्रधान रचना में भी। वे गुण निर्भर करते हैं रचयिता की अन्तर की अनुभूतियों पर।

आधुनिक साहित्य में यथार्थ की प्रधानता होने के कारण प्राचीन रसवादी उसकी श्रेष्ठता स्वीकार करने में हिचकते हैं। उन्हें वास्तववादी साहित्य में साहित्य के प्राणस्वरूप रस का अभाव दिखायी पड़ता है। किन्तु आधुनिक साहित्य के स्वरूप की सम्यक् उपलब्धि तभी हो सकती है जबकि हम सब प्रकार के 'वादों' और राजनीतिक दलगत प्रभावों से मुक्त होकर उसकी समीक्षा करें। संकीर्ण मनोभाव का परित्याग करके व्यापक दृष्टिकोण लेकर साहित्य के सम्बन्ध में विचार करना होगा। साहित्यमात्र की सृष्टि होती है दो तत्त्वों को लेकर। एक है उसका भावतत्त्व अर्थात् साहित्य का प्राण और दूसरा है उसका रूपतत्त्व अर्थात् साहित्य का शरीर। साहित्य का विषय चाहे आदर्श हो या यथार्थ, प्रत्यक्ष हो या अप्रत्यक्ष––इसके उससे रूप की सृष्टि होती है। यह रूप चाहे कितना ही चमत्कारपूर्ण अथवा रमणीय क्यों न हो, किन्तु उसमें प्राणदान करने के लिए जिस भावतत्त्व का प्रयोजन है वह गंभीर अनुभूति के बिना प्राप्त नहीं हो सकता। साहित्य-समालोचकों ने जिसे साहित्य का रस अथवा ध्वनि कहा है वह इस अनुभूति पर ही निर्भर करती है। जबतक साहित्य में साहित्यकार की गंभीरतम अनुभूतियों का प्रकाश नहीं होगा तबतक वह साहित्य रसहीन या निष्प्राण बना रहेगा।

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि साहित्य में उसका रसरूप प्राण ही सब-कुछ है, शरीर कुछ भी नहीं। प्राण देह का आश्रय ग्रहण किये बिना टिक नहीं सकता। इसलिए साहित्यकार की अनुभूतियों का प्रकाश

सुष्ठु एव सुन्दर रूप मे हो यह भी आवश्यक है। स्वस्थ एव सुन्दर शरीर मे ही प्राण का प्रोज्ज्वल प्रकाश होता है। इसलिए साहित्य का जो रूपतत्त्व है वह भी इस प्रकार सुष्ठु एव सुशोभन होना चाहिए जिससे उसके द्वारा अनुभूतियो का स्पष्ट प्रकाश हो सके।

आधुनिक साहित्य की एक बहुत बडी विशेषता यह है कि उसके बहिरङ्ग को लेकर नित नये-नये प्रयोग हो रहे है और उसके रूप-विधान मे अभिनव परिवर्तन हो रहे है। चरित्र-चित्रण, घटना-विन्यास, शब्दचयन, प्रकाशभगी, कथोपकथन आदि की दिशा मे आधुनिक साहित्य ने जो प्रगति की है वह वस्तुत अभिनन्दनीय है। इस प्रकार रूपविधान ने आधुनिक साहित्य मे जो परिपूर्णता प्राप्त की है उसे अस्वीकार नही किया जा सकता। किन्तु साहित्य का मूल्यनिरूपण केवल उसके रूप-विधान पर ही नही किया जा सकता। उसके महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी आधुनिक साहित्य के सबध मे सबसे बडा आक्षेप यह है कि वह मानव-मन को स्पर्श करने तथा उसके अन्तर के रस को उद्वेलित करने मे समर्थ नही हो रहा है। उसके द्वारा हमारे प्राणो मे स्पन्दन उत्पन्न नही होते। आधुनिक साहित्य को हम आग्रहपूर्वक पढते है, उसके रचना-कौशल पर मुग्ध होते है, उसके विषयवैचित्र्य पर विस्मित होते है और वह हमे अच्छा भी लगता है। किन्तु उसकी कोई अमिट छाप हमारे मन पर नही पडती। उसकी आयु पुस्तक समाप्त करने के साथ-साथ नि शेष हो जाती है। वह अपने पीछे अपना कोई पदचिह्न नही छोड जाता। उसमे किसी विराट् का, किसी अनिर्वचनीय का स्पर्श हमे नही मिलता। आधुनिक लेखको मे ऐसे कई शक्तिशाली लेखक है जिनका रचना-कौशल उच्चकोटि का है और जिनकी रचनाओ मे मौलिकता के भी दर्शन होते है, किन्तु उनका कोई स्थायी प्रभाव हमारे हृदय पर नही पडता। उनमे सुर है अवश्य, किन्तु वह सुर अपने पीछे कोई मूर्च्छना नही छोड जाता। वह हमारी मनोवीणा के तार को झकृत

नही करना । आधुनिक साहित्य सब प्रकार से परिपूर्ण होने पर भी प्राणरस के अभाव मे शक्तिहीन-जैसा प्रतीत हो रहा है ।

इसका कारण क्या है ? कारण यह है कि आधुनिक साहित्य में अनुभूति की अपेक्षा बुद्धितत्त्व की प्रधानता रहती है । आज का साहित्यकार पैनी दृष्टि लेकर सब-कुछ को देखता है और मस्तिष्क द्वारा उन्हें समझने की चेष्टा करता है, हृदय के सवेदन द्वारा नही । इसके परिणामस्वरूप उसकी रचनाओ मे हमे सुतीक्ष्ण विचार-विश्लेषण, युक्ति-तर्क एव वैज्ञानिक सत्य तो मिलते है, किन्तु कोई ऐसी मार्मिक अनुभूति नही मिलती जो हमारे हृदय के साथ रागात्मक सबध जोड सके । आज के वस्तुवादी युग मे हमारा मन यथार्थ के प्रति अत्यन्त सचेतन बन गया है, वैज्ञानिक आविष्कारो ने समस्त रहस्यो का उद्घाटन इस रूप में कर दिया है कि उनकी मोहकता हमारी दृष्टि से बहुत-कुछ ओझल हो गयी है और सबसे बढकर आज के जीवन-सघर्ष ने हमारे जीवन के रूड, कर्कश रूप को हमारे सामने इतना स्पष्ट कर दिया है कि हमारी बुद्धि अत्यन्त जाग्रत् हो उठी है और उसके प्रकाश मे हमारी युक्तिहीन अनुभूति, हमारी सवेदनशीलता दब-सी गयी है । आज किसी दरिद्र मनुष्य को देखकर हमारा हृदय करुणा से विगलित नही होता, हम उसके प्रति सहानुभूति नही दिखाते, बल्कि हम उसकी दरिद्रता एवं अभावग्रस्त निष्फल जीवन मे समाज-व्यवस्था का निष्ठुर एव अन्यायपूर्ण रूप प्रत्यक्ष करते है । इसलिए आज का साहित्यकार दीन-दरिद्रों के प्रति आपके हृदय मे समवेदना न जगाकर आपकी विचारबुद्धि को उद्दीप्त करेगा जिससे आप समाज-व्यवस्था के अन्याय्य रूप को देख सके और उसके प्रतिकार की युक्तिमत्ता स्वीकार कर सके । इसी प्रकार पदार्थविज्ञान, जीवविज्ञान, शरीरविज्ञान और मनोविश्लेषण-विज्ञान के आविष्कारो ने ऐसे अनेक रहस्यो का परिष्कृत रूप हमारे सामने उपस्थित कर दिया है जिनको लेकर प्राचीन युग के कवि एक लावण्यलोक की सृष्टि करते थे और कल्पना का कुहक रचा करते थे । आज के साहित्य-

कार का मस्तिष्क हृदय से बढकर जागरूक हो रहा है और उसकी विचारबुद्धि अनुभूति की अपेक्षा अधिक क्रियाशील हो रही है। इसलिए उसका साहित्य भावप्रवण कम, बुद्धिप्रवण अधिक हो रहा है। उसमे घटनाओ का अत्यन्त स्थूल चित्रण हमे मिलता है जिससे हमे ऐसा लगता है कि हम किसी के जीवन की डायरी पढ रहे हो। उसमे वास्तव जगत् का चित्र प्रस्फुटित हो उठता है अवश्य, किन्तु यह चित्र सब प्रकार से मनोरम होने पर भी प्राणस्पर्शी नही होता। उसमे किसी महत् का आभास नही मिलता। उसमे यथेष्ट कलानैपुण्य होने पर भी अनुभूति का वह कोमल, मधुर स्पर्श नही होता जो पाठको की सुषुप्त वेदना को मथित कर डाले।

सभी देशो के साहित्य मे लोकगीतो का एक विशिष्ट स्थान होता है। इन लोकगीतो के रचयिता कौन थे—यह कोई नही जानता। उनकी प्रतिभा एव पाण्डित्य का कोई प्रमाण हमे प्राप्त नही है। इन लोकगीतो का कलापक्ष दुर्बल है। फिर भी अनुभूति की गभीरता के कारण वे इतने रसस्निग्ध बने हुए है कि आज भी उनका रसस्रोत अक्षुण्ण है और सहृदय जनो के मन मे रसानुभूति जागरित किये बिना नही रहते। हिन्दी के सत कवियो मे कबीर की साखी और पद तथा मीरा के गीत कला की दृष्टि से श्रेष्ठ न होने पर भी अनुभूति की गभीरता एव तन्मयता की दृष्टि से कितने मार्मिक है ! सच तो यह है कि कबीर की वाणी और मीरा के गीतो का जैसा तीखा और मार्मिक प्रभाव पडता है वैसा विद्यापति और सूर के गीतो का नही। कबीर की अनुभूति और मीरा की भावना उनके हृदय के अन्तरतम से विनि सृत हुई थी—इसलिए उसमे सरलता है और साथ ही मर्मस्पर्शिता भी। वह हमारे हृदय के रागात्मक तन्तुओ को जगाकर उन्हे सवेदनशील बना डालती है। कलात्मक सौन्दर्य से रहित होने पर भी अनुभूति की प्रेषणीयता के कारण ही कबीर और मीरा के पद आज भी साहित्य के अमूल्य सपद् बने हुए है और उनका रसनिवेदन ज्यो-का-त्यो बना हुआ है। हृदय की यह

जो अनुभूति, वेदना और भावनाओ का यह जो उफान है उसे व्यक्त करके ही साहित्यकार पाठको एव श्रोताओ के साथ अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है और इस रूप मे ही वह चिरकाल तक जीवित रहता है । साहित्यकार की अनुभूतियाँ जितनी ही सर्वमानविक और सर्वसामयिक होगी और जितनी ही निपुणता के साथ वह उन्हे रूपायित करने मे समर्थ होगा उतना ही उसका साहित्य युग-युग मे और देश-देश मे पाठको के मन को स्पर्श करता रहेगा ।

किन्तु इस प्रसग मे यह प्रश्न उठ सकता है कि टेकनीक या प्रकाश-भगी की परिपूर्णता को महत्त्व दिया जाय अथवा अनुभूति के प्रकाश को ? इसके उत्तर मे यह कहा जा सकता है कि दोनो का महत्त्व एक समान होने पर भी यह तो मानना ही पडेगा कि शरीर चाहे कितना ही सुन्दर हो, किन्तु प्राणहीन होने पर उसका कोई मूल्य नही । किन्तु अपेक्षा-कृत कम सुन्दर होने पर भी प्राणवान शरीर का मूल्य अवश्य है । इस-लिए श्रेष्ठ साहित्य तो वही होगा जो देह और प्राण दोनो से स्वस्थ एव सुन्दर हो । साहित्य मे आदर्श की प्रधानता होगी अथवा यथार्थ की—यह तो प्रत्येक युग की लोकरुचि पर बहुत-कुछ निर्भर करता है । विभिन्न युगो मे लोकरुचि मे भिन्न-भिन्न परिवर्तन होते रहते है और उनसे साहित्यकार भी कुछ-न-कुछ प्रभावित अवश्य होता है । किन्तु साहित्य का प्राणधर्म परिवर्तनहीन बना रहता है । और यह प्राणधर्म साहित्यकार के अन्तर की गभीरतम अनुभूति , उसकी निगूढ वेदना एव भावना का आलबन ग्रहण करके ही जीवित रहता है ।

आधुनिक साहित्य के रूप और प्रकृति के सम्बन्ध मे ऊपर जो विचार व्यक्त किये गये है उनसे यह निष्कर्ष नही निकालना चाहिये कि आधु-निक साहित्य का कोई मूल्य या महत्त्व नही है । आधुनिक रचनाओ मे भी बलिष्ठ साहित्य का प्रकाश पाया जाता है । हिन्दी मे प्रेमचद का ‘गोदान’ और प्रसाद की ‘कामायनी’ निस्सन्देह इस प्रकार की श्रेष्ठ

रचनाएँ है । किन्तु इनकी सख्या बहुत कम है । भौतिकतावादी दृष्टि लेकर आज जिस तर्कप्रधान बौद्धिक शैली मे साहित्य-रचना हो रही है उसकी उग्रता जिस दिन कम हो जायगी और भौतिकता के साथ आध्यात्मिकता एव तर्कप्रधान बुद्धि के साथ भावनाप्रधान हृदय का सामञ्जस्य स्थापित होगा उस दिन साहित्य मे केवल बुद्धि की प्रखरता ही नही होगी, बल्कि अनुभूति की गभीरता भी होगी । ऐसा होने पर आधुनिक साहित्य के स्वस्थ, सुन्दर कलेवर मे एक सजीव प्राणरस का सचार होगा और नवयुग का यह साहित्य केवल रचनाकौशल, विपयवस्तु और प्रकाशभगी मे ही नही, बल्कि रसनिवेदन मे भी अभिनव एव अपूर्व होगा । नवयुग का हिन्दी-साहित्य इस प्रकार के साहित्यकार की अपेक्षा कर रहा है ।

साहित्य और समाज-बोध

एक समय वह था जबकि हमारा साहित्य अभिजात-सम्प्रदाय के जीवन-नाटक का दर्पण बना हुआ था । विराट् मानव-परिवार के एक प्रान्त मे जो थोडे-से स्त्री-पुरुष ऐश्वर्य्य एव विलासिता के बीच जीवन-यापन कर रहे थे उनको लेकर ही साहित्य का कारवार चलता था । समाज के निम्न स्तर मे जो असख्य मनुष्य वास करते है उनके लिए साहित्य के दरबार मे कोई स्थान नही था । उस समय के साहित्य मे समाजबोध की चेतना जाग्रत् नही हुई थी । व्यक्ति-जीवन के सुख-दु ख, हर्ष-विषाद का उसमे मर्मस्पर्शी चित्रण होता था । उसके द्वारा पाठको के मन मे समाज की उन्नति एव गौरववृद्धि तथा समष्टि-कल्याण की कोई प्रेरणा उत्पन्न नही होती थी । वह साहित्य वास्तव जगत् के रूढ-कर्कश रूप को भुलाकर कल्पना-जगत् मे शान्ति की खोज करता था । उसके पात्र-पात्रियाँ अपने अन्तर की निविड आकाक्षाओ की परितृप्ति के लिए सघर्ष से भागकर कल्पना-जगत् का आश्रय ग्रहण करते थे । जीवन मे उनकी जो साधे विफल रह जाती थी वे आर्ट की मायापुरी मे सफल होती थी ।

किन्तु प्राचीन साहित्य वास्तव को जिस रूप मे देखता था, आधुनिक साहित्य उस रूप मे नही देखता । उसकी दृष्टिभगी सर्वथा स्वतन्त्र है । वास्तव जगत् का जो कदर्य रूप है, उसमे जो निराशा एव असफलता है उसमे उसे भी आनन्द नही मिलता । किन्तु आनन्द और शान्ति की खोज के लिए वह किसी निर्जन द्वीप या Ivory Tower का

निर्माण नही करता। वास्तव जगत् की वेदना को वह स्वप्न द्वारा भुलाना नही चाहता। वह केवल अपने लिए मुक्ति नही चाहता। वह ऐसे सौन्दर्य की सृष्टि करना चाहता है जिसका सम्बन्ध वास्तव के साथ हो। आनन्द के जगत् की वह भी कामना करता है, किन्तु इस आनन्द से केवल उसीको नही, बल्कि सब लोगो को परितृप्ति होगी। इसलिए वह ऐसे साहित्य की सृष्टि करना है जिसमे वास्तव जगत् के सघर्षशील मनुष्यो के चचल, कर्ममुखर जीवन का प्रकाश हो। इस प्रकार के साहित्य द्वारा हमारे मन मे जो समाजचेतना उत्पन्न होगी उसमे व्यक्तिबोध की भावना का विरोध नही होगा, बल्कि वह उसे और भी वास्तव एव सक्रिय बनायेगा। वही समाजचेतना अनिष्टकर होती है जो मनुष्य के व्यक्तिस्वातन्त्र्यबोध की भावना को क्षुण्ण करती है। यह ठीक है कि साहित्य का मूल उपादान व्यक्तिबोध है। किन्तु यह व्यक्तिबोध समाज-निरपेक्ष नही हो सकता। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज की हलचलो के बीच वह जीवनधारण करता है। इसलिए वास्तव मे विच्छिन्न गगनविहारी साहित्य उसे स्वप्नविलासी बना सकता है, जीवनधारण के लिए जो समस्याएं उसके सामने उपस्थित होती है उनके समाधान मे उसे सहायता नही पहुंचा सकता।

हमारे हिन्दी-साहित्य के सम्बन्ध मे यह अभियोग लाया जाता है कि अभी तक समाजबोध एव राष्ट्रचेतना का भाव उसमे अकुरित अवस्था मे ही है। देश मे जो बडे-बडे आन्दोलन हुए है उनका साहित्यकारो के मन पर जिस रूप मे छाप पडनी चाहिये उस रूप मे नही पडी है। इस प्रकार का साहित्य कहाँ है जो देशवासियो के मन मे क्रान्ति की भावनाएँ भर दे, उनमे आशा एव उत्साह का सचार कर दे और प्रगति की दिशा मे उनका मार्ग-प्रदर्शन करे? हमारे साहित्यकारो का ध्यान समाज एव राष्ट्र की समस्याओ की ओर नही है और वे इन समस्याओ से सर्वथा विमुख होकर साहित्य-रचना कर रहे है—ऐसा नही कहा जा सकता। प्रेमचद के साहित्य मे समाजबोध एव राष्ट्र-

चेतना की जो धारा प्रवाहित हुई थी उसका प्रस्रवण आज भी प्रवहमान है। बगाल का अकाल, अगस्त-आन्दोलन, साम्प्रदायिक अशान्ति एव रक्तपात आदि विषयो को लेकर उपन्यास, कविता तथा कहानियो की रचना हुई है। साम्प्रदायिक वर-विरोध एव रक्तपात के फलस्वरूप शरणार्थियो की जो विकट समस्या उपस्थित हो गयी है उसको लेकर भी कई सुन्दर कहानियाँ रचित हुई है। किन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि हिन्दी के लेखक देश की समस्याओ के प्रति जिस रूप मे अवहित एव सचेतन होना चाहिये उस रूप मे नही हुए है। जिस दिन उनकी चेतना इस रूप मे प्रसारित होगी उस दिन वे समाज एव राष्ट्र की व्यापक समस्याओ को लेकर कहानियो एव उपन्यासो की रचना करने के लिए स्वत स्फूर्त होगे। यह सतोष का विषय है कि व्यापक चेतना का यह लक्षण कतिपय शक्तिशाली लेखको मे स्पष्ट रूप से प्रस्फुटित होने लगा है। एक सजीव साहित्य मे यह शक्ति होती है कि वह साहित्य के विभिन्न टेकनीक के माध्यम से समाज एव राष्ट्र की समस्याओ पर इस रूप मे आलोकपात करे जिसमे वह इतिहास के पृष्ठो मे अक्षय बन जाय। इस कोटि की यदि एक भी सार्थक साहित्यिक रचना हो तो उसमे युग की वाणी अमर बनकर मुखरित हो उठती है। जनगण की चेतना को किस प्रकार सच्चे अर्थ मे साहित्यिक रूप दिया जा सकता है इसका परिचय हमे कतिपय शक्तिशाली लेखको की कृतियो मे मिल सकता है। टाल्सटाय के विराट् उपन्यास "वार एण्ड पीस" तथा ओय-लेस्की के उपन्यास "रेनबो" मे समाज एव राष्ट्र की समस्याओ का जिस रूप मे चित्रण हुआ है उससे उनके वे उपन्यास युग के प्रयोजन से ऊर्ध्व उठ गये है। इसी प्रकार शरत् चन्द्र के उपन्यासो मे मध्यवित्त गृहस्थ-जीवन की आचार-विचार-जनित विडबनाओ का साहित्य के टेकनीक द्वारा बडा ही विशद एव हृदयग्राही विश्लेषण किया गया है। प्रेमचद के 'गोदान' मे सामाजिक विषमताओ का जो साहित्यिक रूप प्रस्फुटित हो उठा है वह कितना हृदयस्पर्शी है!

श्रेष्ठ साहित्य के सम्बन्ध मे विचार करने का एकमात्र मापदण्ड यही हो सकता है कि उसमे समाज की समस्याओ का इस रूप मे चित्रण हुआ है या नही जिससे युग का प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर भी उसकी रसमयता चिरकाल तक अक्षुण्ण बनी रहे । यह तभी हो सकता है जबकि साहित्यकार अपनी रचना को इस प्रकार रसोत्तीर्ण कर सके जिससे भविष्य के विस्तृत मानव-समाज के साथ उसके हृदय का सयोग अखण्ड सूत्र मे आबद्ध हो जाय । जिस साहित्य मे रस का अभाव होता है वह सामयिक प्रयोजन के सिद्ध होने के साथ-साथ पाठको को आनन्द-दान की क्षमता खो बैठता है और फिर उसकी ओर किसी का ध्यान नही जाता । इसके लिए चाहिये व्यक्तिगत अनुभव । जब गभीरतम वेदना की अनुभूति साहित्यिक के मन को निपीडित करने लगती है और वह लिखे बिना नही रह सकता तभी उसकी रचना के पृष्ठ-पृष्ठ मे अनुभूति अग्निस्फुलिङ्ग बनकर ज्वलन्त हो उठती है और पाठको के प्राण को वह स्पर्श किये बिना नही रह सकती । आज की अधिकाश रचनाएँ जो पाठको के मन को स्पर्श करने मे सफल नही होती इसका एक प्रमुख कारण यह है कि उनमे रचयिताओ की स्वत उच्छ्वसित दुर्वार प्राणशक्ति का प्रकाश नही होता । आत्मप्रकाश की वेदना से जब साहित्यिक के प्राण छटपट करने लगते है, जब हृदय के आनन्द एव वेदना, विस्मय एव प्रेम की अनुभूति को भाषा का रूप दिये बिना रहा नही जाता तभी साहित्यरचना सार्थक होती है । आज हमारे राष्ट्र के सामने जनगण के दु ख-दैन्य तथा समाज मे परिव्याप्त आर्थिक विषमताओ की जो सब समस्याएँ है उनकी उपेक्षा करके केवल कल्पनाविलास को लेकर साहित्यरचना करना सार्थक नही कहा जायगा और न वह इस समय के बुद्धिजीवी पाठको को मुग्ध कर सकती है । आधुनिक लेखको मे एक नूतन समाज-चेतना जग उठी है, समस्याओ पर विचार करने की उनकी दृष्टिभगी मे सपूर्ण परिवर्तन हो गया है और भावो के अभि-व्यञ्जन के लिए वे नये-नये टेकनीक का आश्रय ग्रहण करने लगे है ।

किन्तु साथ ही इसके यह भी सत्य है कि साहित्य में अभी इन सब नूतनताओं का सम्यक् रूप मे परिपाक नही हो सका है । इसमे समय लगेगा । साहित्य-रचना समाचारपत्र के लिए सपादकीय लेख लिखना नही है कि चाहे जब जिस विषय पर लेखनी दौडायी जा सकती है । साहित्यकार जिस विषय पर साहित्य-सृष्टि करना चाहता है वह विषय जबतक उसके मन मे अनुभूत होकर सत्य एव वास्तविक नही हो उठेगा तबतक उसका साहित्य और चाहे जो कुछ हो, किन्तु वह रसधर्मी नही हो सकता। सामयिकता के लोभ मे पडकर अथवा अति आधुनिक साहित्य-स्रष्टा की सज्ञा प्राप्त करने के लिए जो लेखक अन्तर की अनुभूति के अभाव मे इस प्रकार के साहित्य की रचना करने बैठते है वे अवश्य ही अपनी रचनाओं द्वारा पाठको को अनुप्राणित नही कर सकते ।

यह पहले ही कह आये है कि कवि या साहित्यकार के मन की आनन्दानुभूति जब स्वत स्फूर्त हो उठती है तभी उसके द्वारा साहित्य मे इसकी सृष्टि सभव होती है। इस विषय मे साहित्यकार सर्वथा स्वतत्र है । आन्तरिक प्रेरणा के बिना साहित्यकार साहित्य-रचना मे प्रवृत्त नही हो सकता । यह एक बहुत बडा सत्य है जिसे साहित्यकारो को सदा स्मरण रखना होगा । प्राय ऐसा देखा जाता है कि बहुत-से तरुण लेखक आधुनिकता के प्रवाह मे पडकर अन्तर्निहित प्रेरणा के विरुद्ध साहित्य-रचना मे प्रवृत्त होते है। इससे उनकी स्वाभाविक प्रतिभा विपथ-गामिनी बन जाती है । साहित्यिक को साधक बनकर ज्ञान की साधना करनी पडती है, जीवन के बहुमुखी अनुभवो को अर्जित करना पडता है। इस रूप मे ही उसकी अन्तर्निहित प्रतिभा का विकास होता है और तब उसके दृष्टिकोण मे सपूर्ण परिवर्तन हो जाता है । कल्पना के तृतीय नयन द्वारा वह विविध दृश्यो एव घटनाओं को देखता है और उनके सबध मे अपनी अनुभूतियो को साहित्य के सत्य के रूप मे रूपायित करता है । जबतक साहित्यस्रष्टा के जीवन मे यह दुर्लभ क्षण नही आता तब तक उसे सत्यनिष्ठ बनकर अपनी साधना मे निरत रहना चाहिये ।

किसी प्रकार के प्रलोभन मे पडकर उसे आत्मवचना नही करनी चाहिये और न स्वधर्म से विचलित होना चाहिये ।

कोई भी समाज-सचेतन, सवेदनशील साहित्यकार युग की समस्याओ से अपने को सर्वथा विच्छिन्न नही रख सकता । जिस सामाजिक परिवेश मे वह जीवन-यापन करता है उसके सबध मे उसके निज के कुछ अनुभव अवश्य होगे । अपने इन्ही अनुभवो से वह अपने साहित्य के लिए उपादान सग्रह करता है । आधुनिक साहित्य मे इस प्रकार की समाजचेतना विशेष रूप मे परिलक्षित होने लगी है और साहित्य के लिए यह अवश्य ही एक शुभ लक्षण है । एक श्रेणी के साहित्यिक समाज के वर्गविशेष की वर्गचेतना को लेकर साहित्य की रचना करने लगे है । इस प्रकार की रचनाओ के सम्बन्ध मे यह प्रश्न उठाया जाता है कि जिस वर्ग के स्वार्थ के साथ यह वर्गचेतना जडित है उस वर्ग में जबतक लेखक उत्पन्न नही होगे तबतक भिन्न वर्ग के लेखको की रचनाओ मे पूर्वोक्त वर्ग की भावनाओ का सम्यक् प्रकाश नही हो सकता । इसके उत्तर मे यह कहा जा सकता है कि साहित्य की रचना एकमात्र वास्तव अनुभूतियो के आधार पर ही नही होती । कवि या साहित्यकार की अनुभूतियो मे कल्पना का अश भी अवश्य होता है । इसलिए एक वर्ग का साहित्यकार यदि अपने से भिन्न स्वार्थवाले वर्ग की समाजचेतना का चित्रण अपनी कल्पना के बल पर करता है तो इससे यह मान नही लिया जा सकता कि उसकी रचना सार्थक नही है । साहित्य का मूल्य-विचार उसका रचयिता किस वर्ग का है, इस बात को ध्यान मे रखकर नही किया जा सकता । उसके मूल्य का सबसे बडा निर्णायक महाकाल होता है । इस महाकाल की कसौटी पर जो साहित्य खरा उतरेगा वही सब काल के लिए और सब देशो के लिए अपने रस-निवेदन द्वारा सहृदय पाठको को परितृप्त करता रहेगा ।

समाजसचेतनता साहित्यिक के लिए एक बहुत बडा गुण है । जो साहित्यिक अपनी अनुभूति को प्रसारित करके मनुष्य-जीवन और मनुष्य

समाज की व्यष्टिगत एव समष्टिगत अनुभूतियो को ग्रहण करता है और फिर उन्हे अन्तर के रस से सिक्त करके भाषा के माध्यम से समाज को लौटा देता है वही इतिहास के युगसन्धि-क्षण का साहित्यकार बनता है। इसके लिए साहित्यकार को आत्म-समाहित होकर साहित्य-सर्जना करनी पडती है। जो लेखक किसी दलविशेष या मतवाद-विशेष की वाहवाही प्राप्त करने के लिए साहित्य-रचना मे प्रवृत्त होते है वे अपने अन्तर्देवता के प्रति न्याय नही करते। जिस मतवाद के प्रति वे अपने पाठको को सचेतन कराना अपना उत्तरदायित्व समझते है उस मतवाद के प्रति वे स्वय कहाँ तक सचेतन है और उनकी अनुभूतियो के साथ वह मतवाद कहाँ तक घुलमिल गया है इस सम्बन्ध मे उन्हे विचार कर लेना होगा। साहित्यकार के लिए स्वधर्म के प्रति यह जो निष्ठा है यही सबसे बढकर वस्तु है। वह चाहे जिस भाव, विचार या मतवाद को लेकर साहित्य-सृष्टि करे, उसे सबसे पहले एक रसस्रष्टा साहित्यिक के रूप मे यह देखना होगा कि वह स्वय उस भाव, विचार या मतवाद को कहाँ तक आत्मसात् कर सका है और उसके अन्तर मे जो कवि या कलाकार बैठा हुआ है उसको कहाँ तक उससे परितोष प्राप्त हुआ है। साहित्यिक मे सामयिक समस्याओ का इस रूप मे चित्रण एव प्रस्फुटन हो, जिससे पाठक उन समस्याओ के प्रति सचेतन बने और अपने दायित्व के प्रति अवहित हो—यह सब प्रकार से वाञ्छनीय है और साहित्य की यह एक बहुत बडी सार्थकता भी है, किन्तु साथ ही इसके साहित्य के स्रष्टा को यह भी सदा स्मरण रखना होता है कि उसका एक दूसरा उद्देश्य है सौन्दर्य-सृष्टि करना जिससे भविष्य के विस्तृत मानव-समाज के साथ वह अपने हृदय का रागात्मक सबध स्थापित करने मे समर्थ हो। साहित्य मे यह जो सौन्दर्य-सृष्टि है वह सब प्रकार के सामाजिक आवेष्टन एव सामयिक समस्याओ से ऊर्ध्व है। यहाँ साहित्यकार को अपने स्वधर्म के प्रति सत्यनिष्ठ बनकर रहना होगा, अन्यथा परधर्म उसके लिए भयावह सिद्ध होगा।

साहित्य का प्रयोजन

माहित्य का जीवन मे क्या प्रयोजन हो सकता है ? इसके द्वारा हमारे जीवन की स्थूल आवश्यकताओ की पूर्ति नही होती । आदिम युग मे मनुष्य की आवश्यकताएँ सीमित थी । थोडी-सी वस्तुओ से ही उसका प्रयोजन मिट जाता था । असभ्य मनुष्य के जितने प्रयास होते थे वे सब उसके भौतिक जीवन के स्थूल अभावो की पूर्ति के लिए । उस समय मनुष्य मे मन की क्षुधा नही जगी थी । उसके जीवन का अधिकाश जीवन-धारण के लिए अनिवार्य सामग्रियो के सग्रह मे ही व्यतीत हो जाता था । मानसिक चिन्तन के लिए बहुत कम अवकाश मिलता था । क्रमश इस स्थिति को अतिक्रमण करते हुए मनुष्य सभ्यता के मार्ग पर अग्रसर होने लगा । ज्ञान-विज्ञान की दिशा मे उसकी जय-यात्रा आरम्भ हुई और उसने मानसिक परितोष के लिए, अपने कर्म-क्लान्त जीवन को सरस एव आनन्दमय बनाने के लिए साहित्य, सगीत, कला आदि की सृष्टि की । ज्यो-ज्यो मनुष्य सभ्य एव सुसस्कृत जीवन व्यतीत करने लगा, उसके प्रयोजनो की परिधि भी बढती गयी और अज्ञात के प्रति उसका आकर्षण प्रबल हो उठा । अब उसके प्रयोजन का क्षेत्र उसके अपने देश की चतु सीमा, वहाँ की धन-सपद् और वहाँ की धरती तक ही सीमित नही रह गया । देश-देशान्तर के साथ उसका सपर्क स्थापित हुआ और वन, जगल, गिरि-पर्वत, सागर, आकाश, पाताल सब उसके प्रयोजन के क्षेत्र बन गये । आकाश, पृथिवी और पाताल के किसी भी रहस्य को आज वह रहस्य बनकर रहने देना नही चाहता । जो जितना ही रहस्यपूर्ण है उसका भेद जानने के लिए उसके प्राणो की पिपासा

उतनी ही अदम्य होती जा रही है । किन्तु इन सब क्षेत्रो मे दु साहसिक अभियान चलाकर और दिग्विजयी वीर बनकर भी मनुष्य तबतक अपने जीवन की महिमा की उपलब्धि नही करता जबतक कि एक बृहत्तर जीवन का सन्धान उसे न मिले । यही साहित्य, सगीत, कला, धर्म, दर्शन आदि का प्रयोजन उसे अनुभूत होता है । भौतिक जीवन मे स्थूल प्रयोजनो की पूर्त्ति के लिए वह विज्ञानदेवता की आराधना करता है और उसके प्रसाद से नाना प्रकार के यत्रो द्वारा अपना अभाव-मोचन करता है । किन्तु इससे उसके जीवन की जटिलताएँ बढती जा रही है और नित्य नयी-नयी समस्याएँ उसके सामने उपस्थित होती जा रही है । यत्रो की आराधना मे उसने अपने जीवन को भी यत्रवत् बना डाला है जिससे उसके स्वाभाविक छन्द को, उसकी सुषमा को वह खो बैठा है और महान ऐश्वर्य से वचित हो गया है । जीवन के इस महान् ऐश्वर्य का, उसके बृहत्तर लक्ष्य का सन्धान मनुष्य को तब मिलता है जबकि वह साहित्य एव कला की सृष्टि करता है और उसके रस से अपने मन-प्राण को अभिषिक्त करके उन्हे उर्ध्वगामी बनाता है । भारत मे साहित्य एव कला की साधना इसी रूप मे हुई थी और इनके माध्यम से हमे अपार्थिव एव इन्द्रियातीत सौन्दर्यसत्ता का बोध कराया गया था । यहाँ के साहित्य ने हमारे राजनीतिक एव सामाजिक जीवन की गतिविधियो का निर्धारण किया था । यहाँ के साहित्यकार एव कलाकार साधक होते थे और अपनी साधना द्वारा जातीय जीवन को ज्ञानालोक एव माधुर्य से सुसस्कृत बनाये रहते थे । मनुष्य का जीवन जब अपनी स्वाभाविक गति को खोकर विपर्यस्त हो उठता है और उसे यथार्थ दिशा का ज्ञान नही रह जाता ऐसी मानसिक स्थिति मे उसे साहित्य के द्वारा सान्त्वना मिलती है और साहित्य उसके लिए पथ-प्रदर्शन का काम करता है । इस प्रकार का जो साहित्य होता है उसका निवेदन चिरकाल के लिए होता है । रसोत्तीर्ण साहित्य मे कुछ ऐसे शाश्वत तत्त्व वर्तमान रहते है जो सब मनुष्यो के लिए और सब काल

के लिए आनन्दप्रद बने रहते है। ससार के सभी श्रेष्ठ साहित्यो के सबध मे यह बात कही जा सकती है। साहित्य का यह शाश्वत तत्त्व है सुन्दर की उपासना। सुन्दर की उपासना का अर्थ है सत्य की उपासना। साहित्य मे सौन्दर्य के माध्यम से सत्य की अभिव्यक्ति होती है। धर्म भी यही काम करता है, किन्तु धर्मशास्त्र के सत्य की अपेक्षा साहित्य का सत्य अधिक हृदयग्राह्य होता है और उसका प्रभाव भी स्थायी होता है। किन्तु साहित्य के सत्य को हृदयङ्गम करने के लिए अनुकूल मन स्थिति चाहिये। मनुष्य का मन सूक्ष्म स्पन्दनो के अभिघात को ग्रहण कर सके इसके लिए उसे अपने मन का गठन तदनुरूप करना होगा। उसके चतुर्दिक् के वातावरण मे जो अतीन्द्रिय सौन्दर्यसत्ता परिव्याप्त है और जिसकी रूपमाधुरी का आभास विश्वप्रकृति के एक-एक कण मे मिलता है उसे समझने मे यदि मनुष्य समर्थ हो तो लौकिक जगत के दु ख-द्वन्द्व से वह ऊर्ध्व उठ सकता है और एक अखण्ड शाश्वत आनन्दानुभूति मे अपने को निमज्जित कर सकता है। इस रूप मे ही सौन्दर्य की उपासना भारतीय कलाकारो ने साहित्य, सगीत एव भास्कर्य मे की थी। सुन्दर की उपासना हमे विश्वरूप परमात्मा के उस सौन्दर्य की झाँकी कराता है जो सृष्टि के प्रत्येक चेतन तत्त्व मे अनुस्यूत है और शाश्वत एव पुरातन होने पर भी चिरनूतन है। इस सौन्दर्य की रूपच्छटा ही हमे प्रकृति के वैचित्र्यमय रूपरग मे दिखायी पडती है। उसकी प्रोज्वल प्रभा से सपूर्ण चराचर जगत प्रोद्भासित है। विश्वरूप सौन्दर्य का यह जो प्रकाश है उसका स्निग्ध सुकोमल स्पर्श प्राप्त कर के मनुष्य का मन आह्लाद से भरपूर हो उठता है और जीवन मे जो कुछ कुत्सित, कुरूप एव कदर्य है उसके प्रति वह स्वभावत विमुख बन जाता है। साहित्य सौन्दर्य की यह बुभुक्षा हमारे मन मे जाग्रत करता है और बताता है कि किस प्रकार हमे जीवन व्यतीत करना चाहिए। आज मनुष्य का मन जो इतना सकीर्ण एव अनुदार बन गया है इसका एक बहुत बडा कारण यह है कि साहित्य उसके अन्तर मे सौन्दर्य की प्रेरणा उत्पन्न नही करता। हमारे

अन्तर का जो अन्तर्यामी पुरुष है उसके प्राण सौन्दर्य के लिए चिर-पिपासित हैं। रूप की यह तृष्णा स्थूल सौन्दर्य द्वारा शान्त नही हो सकती। यह तृष्णा एकमात्र साहित्य एव कला द्वारा ही मिट सकती है। कारण साहित्य एव शिल्प मे सौन्दर्य का जो अनवद्य प्रकाश होता है उसकी अनुभूति इन्द्रियातीत होती है। वह जिस लोक की सुषमामण्डित छवि चित्रित करता है उसके आलोक मे हमारा अन्तर सौन्दर्य एव माधुर्य से उद्दीप्त हो उठता है और हम सब कुछ मे एक महिमा की उपलब्धि करते हैं।

साहित्य मे यह जो चिरन्तन सौन्दर्य-तत्त्व का प्रकाश है वह मनुष्य के प्रयोजन से परे की वस्तु नही है। साहित्य मे हमारे लौकिक जीवन के सुख-दु ख, आशा-आकाक्षाओ का चित्रण होने पर भी वह रसधर्मी हो सकता है यदि उसका प्राणधर्म अक्षुण्ण बना रहे। आधुनिक साहित्य अधिकाधिक रूप मे यथार्थवादी बनता जा रहा है। उसमे भावो की चपलता न होकर चितन की गम्भीरता होती है, भावावेग की अपेक्षा बुद्धितत्त्व की प्रधानता रहती है। ऐसा होना इस बुद्धिवादी युग मे अस्वाभाविक नही कहा जा सकता। किन्तु इस सम्बन्ध मे यह स्मरण रखना होगा कि साहित्य मे यथार्थ जीवन की समस्याओ का चित्रण होने पर भी साहित्य परमुखापेक्षी बनकर नही रह सकता। दूसरे शब्दो मे साहित्य की गतिविधि राजनीति या राजशक्ति द्वारा निर्धारित नही हो सकती। प्रगतिशीलता के नाम पर यदि साहित्य को राजनीति का मुखापेक्षी बनाया जाता है तो अवश्य ही इससे साहित्य की मर्यादा पर आघात पहुँचता है। साहित्य मे राजनीति का समावेश कोई अनहोनी बात नही किन्तु साहित्यकार को राजनीति की पकिलता, उसकी मलिनता एव कलुषता से अपने को सर्वथा निर्लिप्त रखकर चरित्रचित्रण की ओर ध्यान देना होगा जिससे वह चरित्र-चित्रण ही रस रूप मे परिणत हो जाय। साहित्य का रस किसी अरूप एव अशरीरी तत्त्व को लेकर नही,

इतना अस्तव्यस्त एव सामञ्जस्यहीन हो रहा है कि उसे अपने वास्तविक स्वरूप की, अपने अन्तर की महिमा की उपलब्धि करने का अवकाश ही नही मिलता । उसके आसपास जो सौन्दर्य विखरा हुआ है और उसे देखने और समझने के लिए जिस दृष्टि की आवश्यकता है उस दृष्टि से वह वञ्चित बना रहता है । साहित्य-शिल्पी का काम होता है साधारण मनुष्यो मे इस दृष्टि का उन्मेष करना जिससे वे सहृदय वनकर उस सौन्दर्य का उपभोग कर सके और अपनी भावनाओ का परिष्करण एव उन्नयन कर सके । सौन्दर्य का पुजारी होने के नाते कलाकार विश्व-सृष्टि मे प्रच्छन्न जिस सौन्दर्य को अपने कल्पना के नयनो से देखता है वह सौन्दर्य साधारण मनुष्यो के लिए अगोचर बना रहता है । कलाकार की प्रतिभा इस सौन्दर्य को प्रस्फुटित कर के हमारे सामने रख देती है । जिस कलाकार मे यह क्षमता नही होती वह वास्तविक अर्थ मे कलाकार नही कहा जा सकता ।

साहित्य या कला हमारी चित्तवृत्तियो का परिष्करण एव परिमार्जन करती है, हमारे विचारो को उदात्त बनाती है और हमारी सुपुप्त सौन्दर्य-स्पृहा को जागरित करती है । साहित्य का प्रयोजन इन तीन बातो को लेकर ही है । इस दृष्टि से साहित्य का प्रयोजन केवल थोडे से साहित्य-रस-पिपासुजनो को ही नही है बल्कि उन बहुसख्यक साधारण मनुष्यो को और भी अधिक है जिन्हे अपने अभावग्रस्त जीवन मे सौन्दर्य के एक कण का भी आभास नही मिलता और जिनके प्राण उस चिरसुन्दर के स्निग्ध कोमल करस्पर्श से सदा के लिए वचित रह जाते है । स्थूल जीवन के दु ख-द्वन्द्व, घात-प्रतिघात से ऊपर उठकर एक दिव्य जीवन का आभास यदि हमे साहित्य मे नही मिल सका—वह यदि आतिशबाजी की रगीन फुलझरी की तरह हमारी आँखो मे क्षणभर के लिए चकाचौध पैदा कर के ही रह गया और हमारे मन पर गभीर रेखापात नही कर सका तो उस साहित्य की क्या सार्थकता हो सकती है ?

श्रेष्ठ साहित्य जिसमे जाति की भावसपद् सचित रहती है, जातीय जीवन की सबसे बडी निधि, सर्वप्रधान ऐश्वर्य होता है। सब कुछ खो देने पर भी जो जाति अपनी इस परम्परागत भावसपद् को साहित्य के रूप मे सुरक्षित बनाये रहती है उसके जीवन का उत्स कभी शुष्क होने नही पाता। साहित्य मे वशपरम्परा से जो उच्च भावधारा प्रवहमान होती रहती है उससे जाति के प्राणो को निरन्तर पौष्टिक भोजन मिलता रहता है और सृजन करने की क्षमता उसमे अव्याहत बनी रहती है। जाति की आत्मा के विकास मे साहित्य केवल पथनिर्देश ही नही करता बल्कि पाथेय भी जुटाता है। हमारी जाति का यह सौभाग्य है कि हमे साहित्यरूपी यह श्रेष्ठ भावसपद् उत्तराधिकार के रूप मे प्राप्त है। हम उन्ही साहित्यसाधको के वशधर है जिन्होने अपनी साहित्य-साधना द्वारा साहित्य के सौन्दर्य एव आनन्द को एक अलौकिक एव दिव्य चिरन्तन रूप प्रदान किया था जिसके फलस्वरूप उसका रसनिवेदन आज भी अम्लान बना हुआ है। इसलिए हम उनके योग्य उत्तराधिकारी बनकर साहित्य को और भी तेजस्वी एव महिमाशाली बनाये जिससे वह हमारे आज के जन-जीवन का प्रयोजन मिटा सके और साथ ही भविष्य के लिए उज्ज्वल सभावनाओका निर्देश दे सके।

गण साहित्य का क्या रूप होना चाहिये इस सम्बन्ध मे सोवियेट रूस के लेखको का मत है कि उसकी विषयवस्तु समाजवादी, उसका गठन-कौशल राष्ट्रीयतावादी और अभिव्यक्ति यथार्थवादी (Socialist content, national form and realistic representation) होनी चाहिये । नूतन चीन के स्रष्टा एव अधिनेता माओ-से-तुग उस साहित्य को प्रतिक्रियाशील साहित्य मानते है जिसमे सामन्तवर्ग और धनिकवर्ग की भावनाएँ बद्धमूल रहती है अथवा जिसमे व्यक्तिवाद, अराजकतावाद, निराशावाद, प्रभुत्ववाद और पराभव की अभिव्यक्ति होती है या जो 'कला कला के लिए' के सिद्धान्त का समर्थक होता है । साहित्य की इस परिभाषा के अनुसार साहित्य का सृजन किसी वर्गविशेष के लिए न होकर सपूर्ण समाज के कल्याण के लिए होना चाहिये, उसकी दृष्टिभगी वास्तववादी होनी चाहिये और उसमे ऐतिहासिक सत्य के आधार पर विप्लवी मनोभाव का बलिष्ठ प्रकाश होना चाहिये ।

आज के युग मे कोई भी लेखक ऐसे साहित्य की सृष्टि करना नही चाहता जिसमे सामाजिक कल्याण अथवा मानवता की भावना निहित न हो । यह ठीक है कि साहित्य मे व्यक्ति की भावना, कल्पना एव अनुभूति की कलात्मक अभिव्यक्ति होती है, किन्तु लेखक की वह भावना, कल्पना एव अनुभूति साहित्य के माध्यम से सार्वजनीन रूप धारण कर लेती है जिससे पाठको के साथ उसकी अनुभूतियो का साधारणीकरण

होता है । यह भी एक तथ्य है कि आगामी युग के साहित्य मे समाज के उस वर्ग का ही विशेष रूप मे चित्रण होगा जो अब तक साहित्य के दरबार मे उपेक्षित रहा है—अर्थात् सर्वहारा वर्ग । किन्तु इस सर्वहारा वर्ग अथवा किसान-मजदूरो के जीवन और उनके विप्लवी मनोभाव का साहित्य मे यथातथ्य चित्रण हो सके इसके लिए यह आवश्यक है कि उस वर्ग से ही लेखक उत्पन्न हो और इस प्रकार के साहित्य की रचना करे अथवा देशव्यापी विप्लव का आघात वर्तमान लेखको के मन पर इस रूप मे पडे जिससे वे सहज ही स्वत स्फूर्त भाव से जनसाहित्य की रचना मे प्रवृत्त हो । आज का मध्यमवर्गीय या निम्नमध्यमवर्गीय बुद्धि-जीवी साहित्यकार अपने चिरागत सामाजिक सस्कारो से सर्वथा मुक्त रहकर साहित्य की रचना नही कर सकता । भले ही वह समाज-सचेतन होकर साहित्य की रचना करने बैठे किन्तु उसके अवचेतन मे जो सस्कार बद्धमूल चले आ रहे है उनका सहसा उच्छेद नही किया जा सकता । इसके साथ ही यह भी देखना होगा कि आज का बुद्धिजीवी लेखक किन परिस्थितियो के बीच रह रहा है । यह तो मानना ही पडेगा कि व्यक्ति के जीवन पर सामाजिक परिस्थितियो का प्रभाव प्रभूत रूप मे पडता है और जिस आवेष्टन मे वह रहता है उसके अनुसार ही उसकी मनो-वृत्ति, उसकी रुचि और उसका चरित्र गठित होता है । सामाजिक आवेष्टन जबतक पूर्ण रूप से विप्लवोन्मुख नही होता तबतक लेखक की अनुभूति विप्लव के प्रति सजग और सुतीव्र नही हो सकती और न वह सच्चे अर्थ मे विप्लवी साहित्य की सृष्टि कर सकता है । जो तरुण लेखक सर्वहारा वर्ग के प्रति बौद्धिक सहानुभूति धारण कर के साहित्य-रचना करने बैठते है उनमे भी कुछ न कुछ अश मे निराशावाद या पराभव की भावना आ ही जाती है, अथवा वे व्यक्तिस्वातत्र्यवाद के हामी बन जाते है । यही कारण है कि हम जन्मजात विद्रोही तरुण लेखको मे भी उनके विद्रोहमूलक मनोभाव की परिणति शोचनीय पराभव, निराशा एव व्यर्थता मे पाते है । हिन्दी साहित्य मे जिस उत्साह एव उद्दीपना के बीच विद्रोह-

मूलक मनोभाव लेकर प्रगतिशील साहित्य का जन्म हुआ था वह मनो-भाव आज हतप्रभ हो रहा है और उस साहित्य के द्वारा हमे कुछ ऐसी वस्तु नही मिल सकी जिसे हम साहित्य की दृष्टि से स्थायी मूल्य दे सके । केवल हमारे साहित्य मे ही नही अन्य साहित्यो मे भी हम यही बात पाते है ।

किन्तु इसका यह अर्थ नही कि हमारे साहित्य मे सपूर्णतया प्रति-क्रियाशील मनोभाव की अभिव्यक्ति हो रही है और उसमे सामाजिक यथार्थता का चित्रण नही हो रहा है । अनुकूल सामाजिक आवेष्टन के न होने पर भी हमारे साहित्यकार सुनिश्चित रूप मे प्रगतिपथ पर अग्रसर हो रहे है और उनकी रचनाओ मे एक बलिष्ठ समाज-सचेतन मनोभाव का स्पष्ट प्रकाश हो रहा है । इस रूप मे जो प्रगति हो रही है वही आगे चलकर साहित्य-क्षेत्र मे हमारी सच्ची प्रगति की द्योतक होगी । प्रगति के मोह मे पडकर यदि हम बाहर से उधार ली गयी वस्तु को प्रगति के नाम पर प्रश्रय देगे तो यह प्रगति कहाँ तक हमारे साहित्य के लिए जीवनप्रद सिद्ध होगी यह भी विचारणीय है । एक देश दूसरे देश से विप्लव की आमदनी नही करता और न बाहर से किसी देश के ऊपर विप्लव लादा जा सकता है । विप्लव चाहे सामाजिक हो या राजनीतिक उसका आधार ऐतिहासिक सत्य होता है । प्रगति-शील साहित्यकार का काम होता है इस ऐतिहासिक सत्य को हृदयङ्गम कर के सामाजिक विवर्त्तनो के बीच इतिहास की धारा को लक्ष्य करना और कला के माध्यम से कर्मी मनुष्य के जीवन मे युग के आदर्श के अनुरूप परिवर्त्तन लाने की चेष्टा करना । इस रूप मे ही साहित्य युग-सत्य को ग्रहण कर के वास्तवधर्मी बनेगा और समाज मे साम्य एव मनुष्यत्व के आदर्श को स्थापित करने मे सहायक होगा । प्रत्येक देश की एक विशिष्ट सास्कृतिक परपरा होती है, उसका निजत्व होता है । उस परपरा और निजत्व से सपूर्ण विच्छिन्न जो सामाजिक क्रान्ति या प्रगति होगी वह अपनी वस्तु न होकर उधार ली हुई वस्तु होगी और उसका सपर्क देश

की मिट्टी के साथ नही होगा । विदेशी साहित्य मे साहित्य की विषय-वस्तु, प्रकाशभगी और टेकनीक को लेकर नये-नये प्रयोग हो रहे है, एक-एक लेखक अपनी-अपनी खामखयाली को साहित्य मे रूपान्तरित कर के आत्मतृप्ति लाभ कर रहा है इसलिए हमारे देश के साहित्यकार भी आँख मूँदकर उनका अनुकरण करे और व्यक्तिगत खामखयाली को साहित्य मे चरितार्थ कर के आतमतृप्ति लाभ करे यह वाञ्छनीय नही कहा जा सकता । इस प्रकार का साहित्य वास्तववादी साहित्य नही हो सकता, क्योकि समाज की वास्तविकताओ से उसका सम्बन्ध बहुत कम होता है । उसकी पूँजी अपनी न होकर विदेशी होती है । व्यक्ति–मन के झोक या खामखयाली को यदि साहित्य मे स्थान दिया जाने लगे तो इसका परिणाम होगा उत्कट व्यक्तिस्वतन्त्रतावाद । साहित्य पाठको के विचारो को आन्दोलित कर सके, उनकी अनुभूतियो को जगा सके, उनकी विचारदृष्टि को स्वच्छ बना सके इसके लिए यह आवश्यक है कि उसमे भावो की विशदता एव गहनता तथा भाषा की स्वच्छता एव स्पष्टता हो । साहित्य के सोद्देश्य होने का अर्थ यह नही होना चाहिये कि वह कला-सौन्दर्यहीन एकमात्र प्रचारमूलक साहित्य बन जाय ।

प्रगतिशील अथवा वामपथी साहित्य के सम्बन्ध मे विचार करते समय यह नही भूलना चाहिये कि हमारे देश मे अब तक जितने राज-नीतिक और सामाजिक विप्लव हुए है उन सब के सदेशवाहक और अग्रदूत मध्यवित्त वर्ग के युवक रहे है । इस वर्ग ने ही मशालची का काम किया है । जनगण मे क्रान्ति के लिए प्रेरणा एव उत्तेजना उत्पन्न की है । आज भी राजनीतिक क्षेत्र मे यही वर्ग नेतृत्व कर रहा है चाहे वह राजनीति दक्षिणपथी हो या वामपथी । किसानो और मजदूरो के नेतृत्व मे भी यही वर्ग प्रमुख है और उनके स्वत्वो के लिए जितने सग्राम होते है उन सबका सूत्रसचालन इस वर्ग के नेताओ द्वारा ही होता है । इसके साथ ही यह भी मानना पडेगा कि मध्यवित्त वर्ग के नेतृत्व का अवसान निकट भविष्य मे होगा इसकी सभावना अभी नही दिखायी

पडती । जबतक सर्वहारा वर्ग पूर्ण रूप से सचेतन नही होता और उसमे नेतृत्व की क्षमता नही आती तबतक विद्या, बुद्धि, अनुभव आदि के कारण मध्यवित्त वर्ग ही उसका नेतृत्व करता रहेगा और उसके नेतृत्व का प्रयोजन सर्वहारा वर्ग के लिए बना रहेगा । जबतक हमारे देश मे जनक्रान्ति के लिए पूर्ण रूप से गणचेतना उद्दीप्त नही होती तबतक उस क्रान्ति के अनुकूल भूमिका की रचना करने मे मध्यवित्त वर्ग सक्रिय बना रहेगा यह निस्सन्देह कहा जा सकता है । इसलिए आधुनिक साहित्य मे यदि सर्वहारा वर्ग के जीवन के चित्रण की अपेक्षा मध्यवित्त वर्ग के जीवन, उसके सुख-दुख, उसकी आशा-आकाक्षाओ का अधिक चित्रण होता है तो इतने मे ही यह नही मान लेना चाहिये कि वह प्रतिक्रियावादी अथवा प्रगतिविरोधी साहित्य है । सच तो यह है कि वर्तमान धनतात्रिक व्यवस्था मे धनवपम्य जिस रूप मे बढता जा रहा है उसमे मध्यवित्त या निम्नमध्यवित्त की जीवनधारण की समस्याएँ बहुत कुछ वे ही है जो सर्वहारा वर्ग की । समाज मे इस समय निम्नमध्यवित्त वर्ग की जो स्थिति है वह मजदूरो की स्थिति से अच्छी नही कही जा सकती । चार-पॉच बीघा जमीन जोतनेवाले किसान और मासिक एक सौ रुपये तक की नोकरी करनेवाले किरानी ऊपर से भले ही सफेदपोश बने रहते हो किन्तु उनकी वास्तविक अवस्था खेतिहर मजदूर या कारखाना-मजदूर से भिन्न नही होती । हॉ, इतना अवश्य है कि इनमे अपनी कुलीनता का, बुद्धिजीवी या मसिजीवी होने का, अपनी पैतृक परपरा का एक मिथ्या गर्व होता है जिससे ये अपने को मजदूरो से पृथक् समझते है । इनके सस्कार भी कुछ ऐसे होते ह जिससे ये अपने को सर्वहारा वर्ग के साथ एकात्म नही कर सकते । इनके जीवन मे सन्देह, सशय और जटिलताएँ इतनी अधिक होती है कि पूर्ण रूप से सामाजिक क्रान्ति मे हाथ बॅटाना इनके लिए कठिन हो जाता है । फिर भी इन्हे पेटी-बुर्जुया कहकर इन्हे प्रतिक्रियावादी मान लेना बुद्धिमानी का काम नही । कारण इनके द्वारा जिस साहित्य की सृष्टि हो रही है वही साहित्य

आगे चलकर सपूर्ण रूप मे नवयुग के साहित्य की पृष्ठभूमि वनेगा। यह ठीक है कि आने वाला युग श्रमजीवियो का युग होगा——इस युग मे समाज-व्यवस्था का आधार आज की तरह धनगत वैषम्य नही होगा, किन्तु भविष्य के इस नूतन समाज का जो इंगित हमे आज के कितने ही तरुण लेखको की रचनाओ मे मिलने लगा है वही तो उस भावी युग के साहित्य की भूमिका वनेगा। भावी समाज का रूप अभी इन साहित्यकारो की दृष्टि मे धूमिल वना हुआ है इसलिए न तो वे उसकी यथार्थ उपलब्धि कर पाते है और न उसका ठीक-ठीक चित्रण करने मे समर्थ होते है। आगे चलकर ज्यो-ज्यो सामाजिक क्रान्ति का रूप स्पष्टतर होता जायगा त्यो-त्यो लेखको की दृष्टि भी स्वच्छ होती जायगी और तव हमे मध्यवित्तवर्ग के वुद्धिजीवी कलाकारो की रचनाओ मे ही नूतन समाज के मनुष्य की सारी आशा-आकाक्षाएँ—जीवन के प्रति उसकी निष्ठा और अनुराग, उसकी आशावादिता, उसका वलिष्ठ मनोभाव प्रतिफलित होता हुआ दिखायी पडेगा।

इस प्रसंग में एक और बात ध्यान में रखने की यह है कि इस समय हमारे देश में साहित्य के प्रति अभिरुचि रखनेवाले और साहित्य के पाठक प्रायः सबके सब मध्यवित्त और निम्नमध्यवित्त वर्ग के है। खेतो और कल-कारखानो में काम करने वाले सर्वहारा वर्ग के कोटि-कोटि श्रमजीवी निरक्षर है। वे साहित्य के पाठक नही है। उनके जीवन का आश्रय ग्रहण कर के जिस साहित्य की सृष्टि होगी उसकी पहुँच उन तक नही हो सकती। श्रमजीवी किसान और मजदूरो में जो लोग थोडा-बहुत पढना लिखना जानते भी है वे हमारे साहित्य के प्रति अनुराग नही रखते और न इसकी कोई खोज-खबर उन्हे रहती है। लोकगीत और लोककथाओ को गाकर और सुनकर वे अपने मन की क्षुधा शान्त कर लेते है। इसलिए लेखक और पाठक दोनो एक ही वर्ग के है। मध्य-वित्त वर्ग के लेखक स्वभावतः अपने वर्ग के जीवन, उसके हर्ष-विषाद और आशा-आकांक्षाओ का चित्रण अपने साहित्य मे करते है और उनके

पाठक उसमें रस लेते है । इस साहित्य की भाषा, इसकी अभिव्यञ्जना-शैली कुछ इस प्रकार की होती है कि अल्पशिक्षित साधारणजनो के लिए वह साहित्य बोधगम्य नही होता । किन्तु इसका यह अर्थ नही कि श्रमजीवी किसानों और मजदूरो के जीवन को लेकर साहित्य की रचना न हो । इनके जीवन को लेकर साहित्य-रचना का कार्य आरम्भ हो गया है और उसके द्वारा एक बहुत बड़ा काम यह हो रहा है कि मध्य-वित्त वर्ग समाज-सचेतन बन रहा है और उसकी बौद्धिक सहानुभूति उच्च धनिक वर्ग के प्रति न होकर श्रमजीवी वर्ग के प्रति हो रही है । मध्यवित्त वर्ग का लेखक अपने साहित्य द्वारा पाठको को भावी युग के वर्गहीन समाज का, सामाजिक क्रान्ति का आभास दे रहा है और उनके अंदर यह चेतना भर रहा है कि उनका भाग्य उच्च धनिक वर्ग के साथ नही बल्कि श्रमजीवी वर्ग के भाग्य के साथ जड़ित है । श्रमजीवियो के अन्तर्गत अपने को समझ कर तथा उनके सुख-दुःख में समभागी बन कर ही वे अपने को जीवित रख सकते हैं, और आत्मोन्नति कर सकते हैं । धनिक वर्ग के शोषण से मुक्त होकर स्वाभिमानपूर्ण जीवन व्यतीत करने और अपनी शक्तियों को पूर्ण विकसित करने का सुयोग उन्हें आगामी युग के वर्गहीन समाज में ही मिल सकता है । मध्यवित्त वर्ग के अनेक लेखक आज उसी भावी युग से आशा का आलोक ग्रहण कर के नूतन साहित्य की रचना कर रहे हैं । देश में ज्यो-ज्यो शिक्षा का विस्तार होता जायगा त्यों-त्यों इस नूतन साहित्य की पहुँच श्रमजीवियो तक होती जायगी । इसके साथ ही श्रमजीवियो के जीवन के आर्थिक एवं सामाजिक स्तर में उन्नयन होने से उनके साथ मध्यवित्त वर्ग के लेखकों का संपर्क क्रमशः घनिष्ठ होता जायगा और तब उनके द्वारा जिस साहित्य की सृष्टि होगी वह साहित्य विशेष रूप से श्रमजीवी वर्ग के जीवन का प्रतिनिधित्व करेगा । उसके भाव, विचार, भाषाशैली सब कुछ में परिवर्त्तन हो जायगा और वह साहित्य गणमन को उद्बुद्ध करने में समर्थ होगा ।

श्रेणीगत समाज के जीर्ण, पुरातन संस्कारों से यथासंभव मुक्त होकर मध्यवित्त वर्ग के जो लेखक नूतन प्रगतिशील साहित्य की सृष्टि कर रहे हैं और जन-जीवन का यथार्थ चित्रण कर के हमारी न्यायबुद्धि को, हमारी सहानुभूति को उसके प्रति आकृष्ट कर रहे हैं वे अवश्य ही प्रशंसा के पात्र हैं और उनकी रचनाओं का अभिनन्दन किया जाना चाहिये। किन्तु इसका यह अर्थ नही होना चाहिये कि प्रगतिशीलता अथवा यथार्थता के नाम पर देश की संस्कृति एवं परंपराओं से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया जाय और किसी राजनीतिक मतवाद विशेष का जयगान किया जाय। इसी प्रकार फ्रायड के योनवाद का आश्रय ग्रहण करके घोर कामुकता एवं इन्द्रियपरायणता के मोहक चित्र उपस्थित करना और सयम के आदर्श की खिल्ली उडाना प्रगतिशीलता के नाम को कलकित करने के सिवा और कुछ नहीं है। इसी प्रकार अद्भुद विल-क्षण उपमानो का प्रयोग तथा अस्पष्टता एवं सांकेतिकता को वाहन बनाकर जो लोग साहित्य मे नये-नये प्रयोग कर रहे हैं उनका साहित्य भी और चाहे जो कुछ हो किन्तु वह क्रान्तिमूलक विवर्त्तन के बीच से होकर समाज की जो प्रगति हो रही है उसका यथार्थ चित्रण नही है। जनगण के जीवन का वह प्रतीक नही है।

आधुनिक प्रगतिशील साहित्य के समर्थन के जोश मे प्राचीन साहित्य का तिरस्कार या उपहास करने की जो प्रवृत्ति कुछ लोगो मे देखी जाती है वह उचित नही। इस प्रकार की मनोवृत्ति ऐतिहासिक सत्य के प्रतिकूल है। ऐतिहासिक सत्य के विवर्त्तन के बीच से होकर समाज का जो वैप्लविक विकास हो रहा है उस मे उस साहित्य का मूल्य भी कम नही है जिसे हम प्राचीन या प्रतिक्रियागामी साहित्य कहते हैं। इस प्रकार के साहित्य का जो ऐतिह्य है, उसमे जो रसविदग्धता है उससे जनगण को वचित नही रखा जा सकता। यही कारण है कि सोवियेट रूस मे एक ओर जहाँ आधुनिक प्रगतिशील साहित्य की प्रचुर परिमाण मे सृष्टि हो रही है वहाँ दूसरी ओर जनसाधारण मे प्राचीन

साहित्य का समादर और प्रचार भी बढ रहा है । हमारे देश के श्रम-जीवी शिक्षित बनकर नूतन साहित्य से प्रेरणा और आनन्द ग्रहण करेगे इसका अर्थ यह नही होगा कि कबीर, तुलसी, सूर, मीरा और प्रेमचद के साहित्य के प्रति उन्हे कोई आकर्षण और अनुराग नही रह जायगा और उसके द्वारा उनके रसबोध की परितृप्ति नही होगी । प्रगतिशील साहित्य के प्रति अत्युत्साही बनकर प्राचीन साहित्य को प्रतिक्रियागामी साहित्य करार देना विकृत मनोभाव का परिचय मात्र देना है । तत्कालीन देश और काल की पृष्ठभूमि मे इस साहित्य पर विचार करने से हम उसका यथार्थ मूल्याकन कर सकते है । समसामयिक इतिहास को ध्यान मे रखकर यदि हम भारतेन्दु-साहित्य का अध्ययन करते है तो हमे पता चलता है कि उस युग की किस विराट् राजनीतिक अचेतनता और सामाजिक विडम्बना को सामने रख कर उन्होने समाजसुधार करने और राष्ट्रिय चेतना उद्‌बुद्ध करने के लिए साहित्य को एक नया मोड दिया था । इसी प्रकार मैथिलीशरण गुप्त के राष्ट्रिय साहित्य—विशेषकर उनकी 'भारत भारती' मे हमे भले ही क्रान्ति की कोई भावना न दिखायी पड़े किन्तु वर्त्तमान शताब्दी के द्वितीय दशक मे एकमात्र इस पुस्तक ने ही हिन्दीभाषाभाषी शिक्षित युवको मे देश के अतीत गौरव के प्रति श्रद्धा और भविष्य के निर्माण के लिए प्रेरणा प्रदान करने और देश-प्रेम की भावना भरने मे जितना काम किया था उतना अन्य किसी पुस्तक ने नही । यह बहुत सभव है कि कुछ वर्षो के बाद हम प्रेमचद के साहित्य को प्रगतिशील कहने मे कुठित हो किन्तु क्या हम इस बात को भूल सकते है कि उन्होने ही सर्वप्रथम ग्रामीणजनता की दु ख-दुर्दशा, उनके प्रति किये जाने वाले अन्याय और अत्याचार, शोषण एव उत्पीडन को तथा मध्यवित्त वर्ग के जीवन के मिथ्या अभिमान, दम्भ, पाखड, भीरुता, ग्लानि, सशय और हताशा को साहित्य मे ज्वलन्त रूप प्रदान किया ? इन सब साहित्यकारो की कृतियो का एक स्वतन्त्र मूल्य है । वे हमारे साहित्य की चिरकाल के लिए निधि है । रूस जिस प्रकार अपने

देश के तथा अन्य देशों के श्रेष्ठ साहित्यशिल्पी-पुश्किन, चेकभ, टाल्सटाय, दास्ता-भेस्कि, शेक्सपीयर, गेटे आदि को यथायोग्य मर्यादा प्रदान करने मे कुण्ठाबोध नही करता उसी प्रकार हम भी अपने साहित्य के निर्माताओ और उनकी कृतियो को बिना किसी पूर्वाग्रह के यथायोग्य मर्यादा प्रदान करेगे और उनका जो साहित्यिक महत्त्व एवं मूल्य है उसे निस्सकोच भाव से स्वीकार करेगे । अपने पूर्वजो से प्राप्त साहित्यिक उत्तराधिकार को स्वीकार करने मे आधुनिक साहित्यकारो को किसी प्रकार की हिचक नही होनी चाहिये ।

साहित्य में वैज्ञानिकता

मानव-सभ्यता की प्रगति मे विज्ञान की जो देन है उसे अस्वीकार नही किया जा सकता। जीवन का ऐसा कोई भी क्षेत्र नही है जो विज्ञान के प्रभाव से सर्वथा मुक्त हो। इसलिए साहित्य का जिसमे जीवन की अभिव्यक्ति कलात्मक रूप मे हुआ करती है, वैज्ञानिक वातावरण से प्रभावित होना स्वाभाविक है, और सच तो यह है कि साहित्य के ऊपर विज्ञान का प्रभाव पडने भी लगा है। अब प्रश्न यह है कि साहित्य के ऊपर विज्ञान का प्रभाव किस रूप मे पड रहा है? क्या साहित्यकार वैज्ञानिक बनकर साहित्य की सर्जना कर रहा है अथवा विज्ञान के सत्य एव तथ्य स्वत उसके साहित्य मे सन्निविष्ट हो रहे है? यदि साहित्यकार वस्तुओ का निरीक्षण करने मे साहित्यिक दृष्टिभगी से काम न लेकर यत्रो का आश्रय ग्रहण करता है तो अवश्य ही यह कहा जा सकता है कि वह साहित्यधर्म से च्युत हो रहा है। किन्तु वस्तुत. ऐसा नही होता।

साहित्यकार दृश्यो एव घटनाओ को साधारण दृष्टि से न देखकर अतर की प्रज्ञा द्वारा देखता है। इस दृष्टि से देखने पर वह सहज ही ऐसी कितनी ही वस्तुओ को देख सकता है जो सर्वसाधारण के लिए अगोचर रह जाती है। तुच्छ-से-तुच्छ एव साधारण-से-साधारण वस्तुएँ भी उसे एक अपूर्व सौंदर्य एव महिमा से मडित दिखाई पडती है। वैज्ञानिक भी एक असाधारण दृष्टि लेकर वस्तुओ को देखता है और उसकी दृष्टि की पकड मे भी ऐसी कितनी ही चीजे आ जाती है जो सर्वसाधा-

रण की दृष्टि मे नही आ सकती । किन्तु उसके इस दृष्टिकोण मे कोई अलौकिकता नही होती । वह यत्रो की सहायता से अदृश्य एव अज्ञात वस्तुओ को दृष्टिगोचर करता और उनके रहस्यो का पता लगाता है ।

साहित्य का सम्वन्ध मनुष्य के भावराज्य मे होता है। मनुष्य के मन मे जो भावना, इच्छा, द्वद्व, सघात, उच्छ्वास आदि उठते रहते है वे ही साहित्य के उपादान होते हैं । मनुष्य के मनोजगत् का विवर्त्तन, परिमार्जन एव परिचालन साहित्य द्वारा होता है । साहित्य का गम्भीर प्रभाव मनुष्य के मन पर पडता है । किन्तु विज्ञान का प्रभाव मन पर नही पडता, विज्ञान मुख्यत वस्तुधर्मी होता है । भौतिक जगत् मे जो सब नियम काम कर रहे है उनका पता लगाना और उनके कार्य-कारण सम्वन्ध पर प्रकाश डालना विज्ञान का काम है । विज्ञान ने इस दिशा मे जो सब आश्चर्यजनक आविष्कार किए है उनसे अवश्य ही वस्तु-जगत् के सम्बन्ध मे हमारा ज्ञान बहुत व्यापक हो गया है । केवल वस्तु-जगत् ही क्यो, हमारे भाव-जगत् या मन को लेकर भी वैज्ञानिक आविष्कार हुए है जिनसे मन के अनेक गोपन रहस्यो पर प्रकाश पडा है । यह वहुत सभव है कि भाव-जगत् जिन सब नियमो द्वारा परिचालित होते है, आगे चलकर उनके सम्बन्ध मे भी विज्ञान द्वारा आश्चर्यजनक आविष्कार किए जायें ।

वैज्ञानिक की दृष्टि दृश्य-जगत् तक ही सीमाबद्ध रहती है । वह सूक्ष्म-दर्शक यत्रो की सहायता से यथासभव अपनी दृष्टि को प्रसारित करके देख सकता है । किन्तु उसकी यह दृष्टि एक सीमा तक पहुँचकर रुक जायगी । इसके विपरीत साहित्यकार अपनी दृष्टि द्वारा ससीम से परे असीम को भी देख सकता है । भौतिक जगत् के सुख-दु ख से ऊर्ध्व एक अतीद्रिय जगत् मे वह अपने मन को ले जा सकता है और वहाँ पहुँच कर असीम एव अज्ञात के साथ अपने हृदय का सबध स्थापित कर सकता है । साहित्य का यह जो अतीद्रिय जगत् है वहाँ तक विज्ञान की पहुँच नही हो सकती । कारण, विज्ञान बुद्धि का आश्रय ग्रहण करके चलता है ।

अदृश्य उसके लिए तब तक अज्ञात बना रहता है जब तक प्रयोग एव परीक्षा द्वारा वह उसके कार्य-कारण-सबध का पता नही लगा लेता ।

वैज्ञानिक की परीक्षा किसी वस्तु के समग्र रूप को लेकर नही, बल्कि खडरूप को लेकर चलती है । वह वस्तु का विश्लेषण करता है और उसके रूप-रग के मूलभूत कारणो का पता लगाता है । एक फूल का जो समग्र सौदर्य है उस पर उसकी दृष्टि न जाकर उसकी पखुडियो पर, उसके रग और पराग पर पहले जाती है और वह फूल को इन सब वस्तुओ की समष्टिमात्र समझता है । किन्तु एक फूल क्या इन सब वस्तुओ की समष्टिमात्र है और इनका ज्ञान प्राप्त कर लेने पर उसके समग्र सौदर्य की उपलब्धि की जा सकती है ? सच तो यह है कि इन सब वस्तुओ के अतिरिक्त फूल मे कुछ और ऐसी वस्तु है जो उसे कमनीय कुसुम का रूप प्रदान करती है । यह वस्तु वैज्ञानिक की दृष्टि मे अदृश्य रह जाती है जबकि एक कवि या साहित्यिक सहज ही उसे हृदयगम कर लेता है । फ्रायड के मनोविश्लेषण-विज्ञान के अनुसार मनुष्य के जितने सबध और क्रियाकलाप होते है उन सबके मूल मे उसकी काम-वासना काम करती है । कोई भी प्रेम या स्नेह इस काम-वासना से सर्वथा मुक्त नही होता । यहाँ तक कि सतान के प्रति माता-पिता का जो स्नेह होता है वह भी काम-वासना का ही एक रूप होता है । भगवद्भक्ति, साहित्य, सगीत, कला आदि के प्रति मनुष्य का अनुराग—यह सब काम-वासना का ही उन्नयन है । किन्तु यह समग्र दृष्टि नही कही जा सकती । अन्य कारणो से भी एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के साथ प्रेम या स्नेह का सबध स्थापित कर सकता है । नि स्वार्थ प्रेम का अस्तित्व असभव नही है । राजकुमार सिद्धार्थ ने प्राणिमात्र के कल्याण के लिए समस्त भोग-सुखो का परित्याग किया था, मानव-प्रेमी ईसामसीह ने प्राणदान किया था, ईश्वर-भक्त गाधी पीडित मानवो के दुख-क्लेश का मोचन करने के लिए सर्वत्यागी सन्यासी बने थे और बार-बार कारावास-वरण किया था ।

यह सब क्या विशुद्ध प्रेम नही था ? इन महात्माओं का मानव-प्रेम भी कामना की कालिमा से कलंकित था—ऐसा कौन कह सकता है ? और यदि इस प्रकार की दृष्टि लेकर मनुष्य के त्याग, बलिदान, प्रेम, स्नेह, करुणा आदि उच्चतम गुणों को देखा जाय तब तो मनुष्य की नैतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति के लिए कोई प्रेरणा ही नही रह जायगी। इससे न तो व्यक्ति का उत्थान हो सकता है और न समाज का। किन्तु इसका यह अर्थ नही कि साहित्य विज्ञान द्वारा आविष्कृत एवं परीक्षित सत्य के प्रति आँख मूँद लेगा और अपनी कृतियों में उसकी उपेक्षा कर देगा। साहित्य विज्ञान के सत्य का अवश्य मान लेगा। किन्तु इसे ही वह चरम सत्य के रूप में ग्रहण नही करेगा। वह किसी वस्तु के खंडरूप को भी उसी प्रकार सत्य मानेगा जिस प्रकार उसके समग्र रूप को। मनोविश्लेषण-विज्ञान द्वारा उद्‌घाटित मानव-मन के रहस्य उसके लिए ग्राह्य है अवश्य, किन्तु इन रहस्यों से परे मानव-मन का कोई अन्य रूप नही है—ऐसा वह नहीं मानेगा। आज का साहित्यकार इस प्रकार की समग्र दृष्टि लेकर ही किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करेगा अथवा किसी सत्य की तह तक पहुचने का प्रयत्न करेगा। यही साहित्य में विज्ञान का सन्निवेश होता है। प्राचीन साहित्य में यह बात नही थी। सब प्रकार के पक्षपात एवं पूर्वाग्रह से मुक्त एक सामग्रिक दृष्टिकोण लेकर वस्तुओं को देखने की प्रवृत्ति साहित्यकारों में नही पाई जाती थी। अवास्तव कल्पना का आश्रय ग्रहण करके साहित्य रचा जाता था जिसमें विज्ञान द्वारा प्रतिपादित तथ्यों के लिए कोई स्थान नही था। आज का कोई साहित्यकार यदि यह कहे कि पृथ्वी अचला है अथवा हंस पक्षी जल-मिश्रित दूध में से जल को पृथक् कर दे सकता है या चकोर अंगार भक्षण करता है, सुन्दरी स्त्री के पदाघात से अशोक फूलता है तो इसे स्वीकार करने के लिए वर्त्तमान युग के बुद्धिजीवी पाठक प्रस्तुत नही होंगे। वैज्ञानिक सत्यों की जहाँ इस प्रकार उपेक्षा होगी वहाँ पाठकों के लिए साहित्य हृदय-ग्राह्य नही हो सकता और न उन्हें आनन्द दान कर सकता है।

इसलिए आधुनिक साहित्य सत्यनिष्ठ होकर वैज्ञानिक तथ्यो को स्वीकार कर लेता है और साहित्य मे अतीन्द्रियता को वही तक स्थान देता है जहाँ तक विज्ञान के सत्य मे उसका विरोध न हो ।

जो लोग यह कहते है कि साहित्य सर्वथा वस्तुनिष्ठ होगा और उसमे अतीन्द्रियता के लिए कोई स्थान नही होगा उन्हे यह स्मरण रखना चाहिए कि साहित्य का सबध मनुष्य के मनोजगत् से होता है । और मनुष्य का मन आज भी रहस्यमय बना हुआ है । मनोविज्ञान, जीव-विज्ञान तथा मनोविश्लेषण-विज्ञान के प्रयोगो द्वारा मन के गोपन रहस्यो पर चाहे जितना आलोकपात हुआ हो, किन्तु कोई यह नही कह सकता कि मानव-मन के समस्त रहस्य उद्घाटित हो चुके है और अब विज्ञान के लिए अदृश्य एव अज्ञात कुछ भी नही रह गया है । बडे-बडे वैज्ञानिक भी यह दावा नही करते कि वे मनुष्य के मन के अवचेतन से जो गोपन-लीलाएँ चलती रहती है उनसे पूर्णत परिचित हो चुके है । आज भी किसी-किसी मनुष्य के आचरण मे ऐसी विलक्षणता देखी जाती है जिसका विज्ञान कोई समाधान नही दे सकता । इसलिए साहित्य जब मन के व्यापारो को लेकर चलेगा तब अवश्य ही कुछ-न-कुछ रहस्यमयता अथवा अतीन्द्रियता उसमे आए बिना नही रह सकती । किसी दृश्यविशेष का वर्णन करने मे भी साहित्यिक को इन्द्रिय-जगत् से ऊर्ध्व उठकर अतीन्द्रिय की शरण लेनी पडती है । आकाश की नीलिमा, चद्रिका-धवलित रात्रि, नक्षत्र-खचित गगन-मडल, तरग-विक्षुब्ध-सागर—इन सबका वर्णन करते-करते कवि का मन जब एक अतीन्द्रिय अनुभूति से भर जाता है तब उसे इन सबमे एक चेतन सौन्दर्य-सत्ता का भान होने लगता है । ससीम-असीम का भेद उसकी दृष्टि से ओझल हो जाता है और स्थूल-जगत् के मूर्त्त सौन्दर्य की अपेक्षा वह उस स्थूल सौन्दर्य के अतराल मे सूक्ष्म सौन्दर्य-तत्त्व की ओर अधिक आकृष्ट होता है । उसे इस बात को जानने की उत्कण्ठा होती है कि ससार के चराचर जीव किसके बल पर मौन-मुग्ध है—

मैं चिर उत्कठातुर
जगती के अखिल चराचर
यौं मौन-मुग्ध किसके बल !

उसे क्षितिज के उस पार छायावन मे स्वर्ग की परियो का एक ससार दिखाई पडता है —

दूर, उन खेतो के उस पार,
जहाँ तक गई नील झकार,
छिपा छाया-वन मे सुकुमार
स्वर्ग की परियों का संसार !

—पत

बात यह है कि पचेद्रियो द्वारा दृश्यमान जगत् का जो रूप हम देखते है उससे किसी वस्तु के वाह्य रूप को ही हम जान सकते है । उस वस्तु का प्रकृत ज्ञान प्राप्त करने के लिए और कुछ जानना पडता है । उसके लिए इद्रियातीत दृष्टि चाहिए । हाँ, इतना अवश्य है कि एक प्रतिभा-सपन्न कलाकार इस अतीन्द्रियता को साहित्य मे एक ऐसा निर्दिष्ट रूप देगा जिससे साहित्य मे अस्पष्टता नही रह जायगी और उसका प्रभाव और भी दृढ हो जायगा ।

यह पहले ही कह आए है कि मनुष्य का मन जब तक रहस्यमय बना रहेगा तबतक साहित्य मे भी अतीद्रिय अनुभूतियो के लिए स्थान रहेगा । और यह अतीन्द्रियता विज्ञान का परिपथी नही है । विज्ञान भी अतीद्रिय जगत् की सत्ता को स्वीकार करता है जहाँ तक उसकी पहुँच अभी नही हो सकी है । आइन्सटीन, हाइजेनबर्ग, एडिगटन आदि के मतवाद इस मत के पोषक है । विज्ञान की जययात्रा भी उसी अदृश्य एव अज्ञात की ओर है । इस दृष्टि से साहित्य एव विज्ञान दोनो एक ही लक्ष्य की ओर गतिशील हो रहे है । साहित्य यदि इस इद्रियातीत अनुभूति मे अपने को सर्वथा रहित कर लेगा और स्थूल सत्ता तक ही अपने को सीमित रखेगा तो इससे उसके रस मे व्याघात पहुँच सकता है ।

उसके स्थायित्व एव सर्वजनीनता के सबध मे भी सन्देह हो सकता है । साहित्य का जो एक विराट् रूप होता है और जिसके कारण वह सब काल के लिए वरेण्य बन जाता है उसकी वह विराटता भी क्षुण्ण हो सकती है । जो साहित्य सपूर्ण वस्तु-धर्मी तथा स्थूल-सर्वस्व होगा उसमे विराटता के लिए स्थान नही रह जायगा । अश्लीलता का दोष भी उसमे आ जा सकता है । साहित्य की विराटता इस बात को लेकर ही है कि वह पार्थिव से अपार्थिव की ओर, स्थूल से सूक्ष्म की ओर और ज्ञात से अज्ञात की ओर हमे ले जाता है । यदि ऐसा न हो तो उसमे सत्य, शिव, सुन्दर का एक साथ समावेश नही हो सकता ।

इसलिए आधुनिक युग का सचेतन साहित्यकार वैज्ञानिकता एव अतीद्रियवाद दोनो के बीच सामञ्जस्य की रक्षा करते हुए साहित्य की सर्जना करेगा । दोनो मे किसी की भी वह उपेक्षा नही करेगा । सच तो यह है कि वर्त्तमान युग मे वही साहित्य बुद्धिजीवी पाठको को परितृप्त कर सकेगा जिसमे एक ओर वैज्ञानिक की कठोर सत्यनिष्ठा होगी और दूसरी ओर साहित्यिक की सूक्ष्म अतर्दृष्टि । श्रेष्ठ एव शक्तिशाली साहित्य के लिए दोनो ही एक समान आवश्यक है ।

हमारे साहित्य की वैचित्र्यहीनता

हिन्दी का आधुनिक कथा-साहित्य—जिसमे उपन्यास और गल्प दोनो ही सम्मिलित है—क्रमश समृद्ध हो रहा है । हिन्दी मे कहानियाँ बहुत अधिक सख्या मे लिखी जाती है, और यह बात बिना किसी अत्युक्ति के कही जा सकती है कि हिन्दी के कतिपय कहानी-लेखको की कुछ कृतियाँ किसी भी साहित्य की श्रेष्ठ कहानियो के साथ तुलना मे रखी जा सकती है । हाँ, उपन्यासो के सम्बन्ध मे यह बात उतनी दृढता से नही कही जा सकती । हिन्दी मे ऐसे उपन्यासो की सख्या बहुत कम है, जो ससार के श्रेष्ठ उपन्यासो की तुलना मे रखे जा सके । किन्तु हिन्दी के कथा-साहित्य के पाठको को एक बात जो विशेष रूप मे खटकती है, वह यह है कि हमारे उपन्यास या कहानियो के कथानको मे विविधता एव विचित्रता का प्राय अभाव पाया जाता है । जहाँ तक कथानक का सम्बन्ध है अधिकाश कहानियाँ एक ही प्रकार के कथानक को लेकर चलती है, भले ही उनके रचना-कौशल मे विभिन्नता हो । एक ओर रचना-कौशल, शैली, चरित्र-चित्रण, सविधान आदि की दृष्टि से जहाँ कथा-साहित्य सम्पूर्ण नूतनता को लेकर चल रहा है, वहाँ कथानक के क्षेत्र मे वह अब भी उसी पुराने ढर्रे को अपनाये हुए है । हमारे जीवन के उसी पुराने प्रेम-विरह-मिलन के चक्राकार आवर्त्त मे हमारा कथा-साहित्य आज भी चक्कर काट रहा है । उसकी यह एक-रसता हमारी रसानुभूति को सुतीव्र नही बनाती । मन के रहस्यो का सूक्ष्म विश्लेषण, घटनाओ के घात-प्रतिघात के फलस्वरूप मानव-मन

का अन्तर्द्वन्द्व, नगरो के मध्यवित्त समाज का जीवन, ग्रामो मे रहनेवाले जमीदार, किसान, पुरोहित तथा मजदूरो की नित्य की जीवन-यात्रा, कालेज के छात्र-छात्राओं का चटुल प्रेम, राजा-महाराजाओं और रईसों की विलासिता एव प्रेमलीला इत्यादि विषयो को कथानक बना कर उनके आधार पर रचे गये उपन्यासो और कहानियो की सख्या कम नही। इस दिशा मे विषय-वैचित्र्य का भी अभाव नही देखा जाता। किन्तु कथानक की दृष्टि से इस सकीर्ण सीमा से बाहर हमारे कथा-साहित्य का विस्तार अभी तक नही हो सका है। कहानी, उपन्यास, नाटक, चित्र-नाट्य सब इसी सकीर्ण परिधि के अदर चल रहे हे। प्रेमचद के बाद हमारे ग्रामीण जीवन को ही लेकर बहुत कम उपन्यासो की रचना हुई है। हिन्दी मे ऐसे उपन्यास बिरले ही मिलेगे जिनमे ग्राम-वासियो के जीवन के सुख-दुःख की सकरुण प्रेम-लीला, उनके परस्पर के राग-द्वेष, उनकी घर-गृहस्थी की वास्तविक झाकी हमे देखने को मिले। इस दिशा मे बगला के उपन्यास हम से आगे बढे हुए है।

श्रीमती पर्लबक ने एक साधारण चीनी किसान के सम्पूर्ण जीवन का जो अत्यन्त सजीव एव सकरुण चित्रण अपनी अमर रचना 'दि गुड अर्थ' (The Good Earth) मे किया है, वैसा हृदयग्राही चित्रण हमारे ग्रामीण जीवन का क्या हिन्दी के उपन्यास मे मिल सकता है? सच तो यह है कि हमारे उपन्यास-लेखको का ध्यान अभी तक जितना नगर-जीवन की ओर गया है उतना ग्रामीण-जीवन की ओर गया ही नही। विषयवस्तु की विचित्रता की दृष्टि से साहित्य मे जो दैन्य पाया जाता है इसका कारण क्या है?

इसका प्रधान कारण हे हमारे जीवन की सकीर्णता। एक सकीर्ण सीमा के भीतर ही हमारा जीवन अब तक आवर्त्तित होता आ रहा है। शताब्दियो की पराधीनता के कारण जीवन के ऐसे कितने ही क्षेत्र है जिनकी ओर हमारे लेखको की प्रतिभा को विकसित होने का कभी सुयोग मिला ही नही। देश की अपनी कोई सेना नही रहने से युद्ध के—

स्थल, जल और आकाश—अनुभव हमे नही के बराबर प्राप्त हुए। देश की जो सेना थी उसे विदेशी शासक जनसम्पर्क से इस प्रकार बचा कर रखते थे कि लेखको तथा बुद्धिजीवियो को उनके जीवन का कोई परिचय ही नही पाता था। इसी प्रकार सामुद्रिक जीवन, अपने देश के जगल, पहाड तथा विभिन्न देशो के आचार-विचार, वहाँ की समाज-नीति, अर्थनीति आदि के सम्बन्ध मे भी हमारे लेखको का प्रत्यक्ष ज्ञान स्वल्प ही कहा जायगा। हमारे साहित्य के कितने ऐसे लेखक है जिन्हे ससार के विभिन्न देशो मे भ्रमण करने और वहाँ के जन-जीवन के सम्बन्ध मे जानकारी प्राप्त करने का सम्यक् सुयोग मिला हो? हमारे युवको को दुःसाहसिक यात्रा करने के लिए तो कभी प्रोत्साहन मिला ही नही। गृहपरिवार का भार उनके जीवन को इस तरह आच्छन्न कर लेता है कि वे उसकी सकीर्ण परिधि से अपने जीवन को मुक्त कर ही नही सकते। हमारे प्राचीन साहित्य को उठाकर देखिये! उसमे देश के योद्धाओ, समरनायको और वीरो की गाथाओ का वर्णन किस प्रकार उच्छ्वासपूर्ण ओजस्वी शब्दो मे हुआ है। अपने देश के उन वीरो के शौर्य एव वीर्य्य की कथाओ को पढ कर आज भी हम स्वदेश-प्रेम की अग्निमयी प्रेरणा प्राप्त करते है और हमारे मन-प्राण पुलकित हो उठते है। अपने देश के धर्म-प्रचारको की विदेश-यात्रा का वर्णन जब हम पढते है, उस समय हमे उनके दुःसाहस पर विस्मय-विमुग्ध हो जाना पडता है। तनिक कल्पना तो कीजिए उस युग की, जब देश मे आज जैसे आवागमन के साधनो का सर्वथा अभाव था, फिर भी सन्यासी और भिक्षु धर्म-प्रचारक के रूप मे बडे-बडे पर्वत, गिरि-कान्तार एव दुर्लध्य सागर को पार करके सुदूर देशो की यात्रा भारतीय सभ्यता, सस्कृति एव धर्म का प्रचार करने के लिए किया करते थे। उनका एकमात्र सम्बल होता था ज्ञान। उस युग के काव्यो मे देश के विभिन्न भागो का, उसके पहाड, वन-जगल, नदी-नद और समुद्र का जो वर्णन हुआ है वह भी कितना सजीव और विशद है। उस समय के कवियो

को देश के विभिन्न भागो मे भ्रमण करके इस प्रकार ज्ञानार्जन करने मे कितनी कठिनाइयाँ उठानी पडी होगी। फिर भी उनमे ज्ञानार्जन की जो अदम्य पिपासा थी, उसकी तृप्ति के लिए उन्होने बडी-से-बडी कठिनाइयो और असुविधाओ को भी नगण्य कर दिया। आज के लेखको मे ज्ञानलाभ करने का यह दुर्जय सकल्प बहुत कम ही देखा जाता है। और जब तक उनके ज्ञान एव अनुभव का क्षेत्र व्यापक एव विस्तृत नही होगा तब तक साहित्य भी वैचित्र्यहीन ही बना रहेगा।

वर्तमान युग मे प्राय सभी देशो मे वहाँ की राष्ट्रीय सेना की जीवन-यात्रा तथा उसके वीरत्वपूर्ण कीर्तिकलाप को पृष्ठभूमि बनाकर बहुसख्यक उपन्यासो, कहानियो एव नाटको की रचना हो रही है। इन कहानियो के आधार पर बहुत से चित्रनाट्य भी तैयार हुए है। इन चित्रनाट्यो का प्रदर्शन अनेक सिनेमा-गृहो मे होता है, जहाँ असख्य दर्शक उन्हे देखकर अपने देश के प्रति गोरव बोध करते है। अभी-अभी जो महायुद्ध समाप्त हुआ है उसको लेकर न मालूम कितने उपन्यास, गल्प लिखे जा चुके है। अकेले रूस मे ही युद्ध की घटनाओ तथा रूसी सैनिको की कीर्त्तिकथाओ की असख्य कहानियाँ लिखी जा चुकी है। इस प्रकारके उपन्यासो मे वैदा वैसिल्यूस्का की अमर कृति Rainbow की कितनी ख्याति हुई है यह बताने की आवश्यकता नही। ससार की सभी मुख्य-मुख्य भाषाओ मे इसका अनुवाद हो चुका है। इसी तरह इलिया यूरेनबर्ग की कहानियो ने भी बडी प्रसिद्धि प्राप्त की है। नौ-सेना के दुसाहसिक अभियानो को लेकर अगरेजी मे तो पहले भी पर्याप्त कथा-साहित्य की रचना हो चुकी है। नाविको के जीवन को पृष्ठभूमि बना कर सुन्दर एव चमत्कारपूर्ण उपन्यास लिखे गये है। इस प्रकार के उपन्यासो मे C S Foster का " The Ship " बहुत प्रसिद्ध है।

हमारे देश के साहित्य-स्रष्टाओ के लिए अनुभव के ये सब क्षेत्र अब तक अवरुद्ध रहे है। देश के युवको को किसी स्वतन्त्र सैन्यबल के

सैनिक के रूप में समरयात्रा करने का कभी सुयोग नही मिला। देश की सेनावाहिनी के साथ देश के अन्य किसी भी वर्ग का कभी घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित नही हो सका। जहाँ तक अपनी राष्ट्रीय सेना और उसके कीर्तिकलाप का सम्बन्ध है, हमारे लिए गौरव करने की कोई भी वस्तु नहीं थी। ऐसी स्थिति में हमारे लेखकों के लिए यह सभव ही नहीं था कि वे किसी सैन्यदल के नायक के जीवन तथा उसके वीरत्व को पृष्ठभूमि बना कर किसी उपन्यास या नाटक की रचना करते। भले ही गत दो महायुद्धो में लाखों की सख्या में हमारे सैनिको ने भाग लिया हो, रणभूमि में उन्होंने असीम साहस एव वीरता दिखलायी हो, श्रेष्ठ सम्मानसूचक पदक प्राप्त किये हो, किन्तु हमारे साहित्य में उनके लिए कोई स्थान नही। हमारे देश के स्वाधीनता-सग्राम का इतिहास न मालूम कितने ज्ञात एव अज्ञात देशभक्तो के त्याग एव शौर्यवीर्यपूर्ण दृष्टान्तो से भरा पडा है। किन्तु इस प्रकार के दृष्टान्तो को कथानक बनाकर कितने उपन्यास एव कहानियो की रचना हुई है ? आजाद हिन्द फौज के गठन तथा उसके सैनिकों के वीरतापूर्ण सग्राम ने हमारे राजनीतिक जीवन को कितना प्रभावित एव अनुप्राणित किया है यह किसी से छिपा नही है। एक ओर प्रबल पराक्रमी तथा आधुनिकतम शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित अगरेजी सेना और दूसरी ओर उसके विरुद्ध सग्राम करने वाले भारतीय सैनिक, जो सब प्रकार के सामरिक साधनो से विहीन होकर निर्भीक भाव से शत्रु का सामना करते जा रहे है। इन वीरो की वीरता पर कोई भी जाति अपने को गौरवान्वित समझ सकती है। हमारी भावी पीढियाँ इन वीरों के कृत्यों को पढकर गर्व बोध करे इसके लिए यह आवश्यक है कि आज के साहित्य मे इनकी गाथाओं का सजीव एव सुष्ठु चित्रण हो। कथा-साहित्य के लिए पर्याप्त उपादान इन सब वीरो के वीरत्वपूर्ण कृत्यों से सग्रहीत किये जा सकते है।

हमारा देश अब स्वाधीन हो चुका है, उसकी सेना अब सच्चे अर्थ मे राष्ट्रीय सेना होगी। हमारे सैनिक, नाविक एव विमानवीर अब

स्थल, जल और आकाश में अपना समर-कौशल प्रदर्शित करेगे । हमारे जहाज अब स्वच्छन्द भाव से विशाल सप्त समुद्र के वक्ष पर विचरण करेगे । हमारे विमानवीर आकाश-मार्ग से ही होकर सुदूर देशो की यात्रा करेगे और इस प्रकार की यात्राओ मे वे कितने ही रोमाचकारी अनुभव प्राप्त करेगे । स्वाधीन भारत के युवको की टोलियाँ कभी हिमालय की चोटियो को नापने, कभी दक्षिण ध्रुव का विवरण प्राप्त करने और कभी सहारा और गोबी की मरुभूमि का पता लगाने के लिए चल निकलेगी । उनके दु साहसिक अभियानो की पृष्ठभूमि बना कर जो साहित्य रचित होगा, वह देश के नवयुवको एव बच्चो के लिए कितना प्राणमय एव स्फूर्त्तिजनक होगा ! किशोरो और बच्चो का मन स्वभावत दु साहसिकताप्रिय होता है । वे एडवेचर की कहानियाँ बडे चाव से पढा करते है । उनके कोमल मन पर इस प्रकार के वीरत्वपूर्ण दु साहसिक कृत्यो का जो प्रभाव पडेगा वह उनके भविष्य के जीवनगठन मे विशेष फलप्रद सिद्ध होगा । इस दिशा मे हमारे साहित्यिको के लिए एक विराट् क्षेत्र खुला पडा है । इस क्षेत्र के विविध एव विचित्र अनुभवो को प्राप्त करके उनके आधार पर जो साहित्य रचित होगा, उससे हमारा साहित्य समृद्ध एव शक्तिशाली होगा और तब हम सचमुच इस बात का गर्व कर सकेगे कि हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी का आधुनिक साहित्य इतना सम्पन्न हो चुका है कि विश्व-साहित्य के समकक्ष वह रखा जा सके ।

———

कला के प्रति गांधीजी का दृष्टिकोण

कलामात्र का उद्देश्य सौन्दर्य की सृष्टि करना है । कलाकार जड वस्तुओ को अपनी अनुभूतियो के रस से सिञ्चित करके उन्हे एक अनवद्य रूप प्रदान करता है । अन्तर की निविड अनुभूति कभी शब्दो के जादू के स्पर्श से काव्य मे, तूलिका के कोमल स्पर्श से रेखा और रग मे और कभी मूर्त्ति के रूप मे पाषाण के कठिन गात्र मे सौन्दर्य की सृष्टि करती है । इस प्रकार जब कलाकार या शिल्पी अपनी मानसिक अनुभूति के सहारे बाह्य-जगत की परिवर्तनशील जड वस्तुओ का चित्रण करता है तो उसकी एक स्वतन्त्र सत्ता कायम हो जाती है । किन्तु कला की यह जो परिभाषा है, अर्थात् सौन्दर्य की सृष्टि, वह जीवन से पृथक् कोई वायवी वस्तु नही है । रस्किन के अनुसार श्रेष्ठतम कला वही कही जायगी, जो पाठको या द्रष्टाओ के मन मे अधिक-से-अधिक सख्याओ मे भावो का वहन कर सके, और रस्किन के मत से वही भाव श्रेष्ठ एव महान् कहा जायगा, जो भाव ग्रहण करनेवाली हमारी बोधवृत्ति को सचालित एव समुत्थित करे । इसलिए कला की महत्ता उसकी भावना एव कल्पना की पूर्णता मे है—अर्थात् वह भावना जो किसी महत् भाव का द्योतक हो, केवल शोभासौन्दर्य का ही द्योतक नही ।

हमारे देश मे कला को साधारण जीवन से पृथक् विलास या कोई सुकुमार-मूलक क्रिया न मान कर उसे आत्मिक सौन्दर्य का प्रकाश माना गया है । श्रेष्ठ शिल्पी वह है जो एकान्त साधना एव निष्ठा द्वारा जीवन

को एक सहज, सरल एव सुन्दर रूप दे सके। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार--
'आत्मसस्कृतिर्वाव शिल्पानि छन्दोमय वा एतैर्यजमान आत्मान सस्कुरुते।"
यहाँ आत्मसस्कृति ही शिल्प है। और यह आत्मसस्कृति तभी आयगी
जब कि जीवन को छन्दोमय बनाया जायगा। जीवन को छन्दोमय बनाने
का अर्थ है उसमे सयम एव सूक्ष्म मात्राबोध द्वारा सुसामञ्जस्य लाना।
यजमान शिल्प के छन्द से अपनी आत्मा का सस्कार करता है, जीवन
को उच्च, उदार एव महान् बनाता है। कला का यह जो आध्यात्मिक
पक्ष है उसे ही भारत मे प्रधानता दी गयी है और यही कारण है कि
यहाँ कला सदा धर्म का अग बन कर रही है।

उपनिषद् के ऋषि ने जिस छन्दोमय जीवन को आत्मसस्कृति या
शिल्प कहा है वह जीवन साधना एव सयम द्वारा ही प्राप्त हो सकता
है। जिस प्रकार कुम्भकार कीचड से सुन्दर घडे या मूर्त्ति का निर्माण
करता है, चित्रकार रग और रेखाओं के मेल से सजीव दृश्यो का चित्रण
करता है और उसे हम कलाकार या शिल्पी कहते है उसी प्रकार
स्थूल जीवन को साधना एव अनवरत निष्ठा द्वारा विकसित करते-करते
जो व्यक्ति उसे एक आध्यात्मिक सौन्दर्य से महिमामण्डित बनाता है उसे
जीवनशिल्पी क्यो न कहा जाय ? यदि जड वस्तुओ को रूप प्रदान करके
उन्हे विकसित किया जा सकता है और उनका वह रूप हमारे मन मे
उच्च एव उदात्त भावो की सृष्टि कर सकता है तो जो साधक आत्म-
सस्कार द्वारा अपने जीवन को सुसस्कृत, अपने विचार और आचरण
को परिमार्जित तथा अपने आप को शुचि, शुभ्र एव सुषमापूर्ण बना
सकता है उसे हम कलाकार क्यो न कहे ? यदि कला की सृष्टि
जीवन के उपादानो से होती है तो जीवन को महत् एव सुन्दर बनाना
भी एक कला है। और यह सुन्दर जीवन तभी सभव हो सकता है जब
कि जीवन मे छन्द और लय हो। बेसुरा राग, ज्यो-त्यो कर पहने हुए
वस्त्र और आभूषण किसी को अच्छे नही लगते। जिस वस्तु को जहाँ
रखने का प्रयोजन है वह वस्तु जब वहाँ रखी जाती है तभी उसमें

सौन्दर्य का समावेश होता है । नाक और कान में पहने जाने वाले आभूषण यदि गले में पहने जायँ तो वे सुन्दर नही लगेगे । फूल गुलदस्ते मे ही शोभा पाते है, भोजन की थाली या किसी और बर्तन मे नही । इसी प्रकार जीवनछन्द को विश्वछन्द के साथ मिलाकर जो चलना जानता है, जो जीवन के सुर को कभी बेसुरा नही होने देता, जो शरीर, मन और आत्मा की वृत्तियो मे सन्तुलन रख कर उन्हे अपनी मर्यादा के अन्दर क्रियाशील होने देता है उसके जीवन मे एक सहज एव स्वाभाविक सौन्दर्य का विकास होने लगता है । उसके जीवन का प्रत्येक कर्म सुषमा-मण्डित बन जाता है और प्रत्येक वस्तु मे उसे सौन्दर्य की छटा दिखायी पडने लगती है । गेदा के फूल और मयूर पक्षी यदि अपने रगो की तडक-भडक और विचित्रता से हमारे सौन्दर्य-बोध को तृप्त करते है तो बेला के फूल और हस पक्षी अपनी शुभ्रता और सुडौल गठन से हमारे मन का कम आकर्षित नही करते । शुचि शुभ्र निराभरणता मे जो एक प्रकार का सात्त्विक सौन्दर्य है वह सौन्दर्य नही सुषमा है और इस सुषमा की एक पृथक् महिमा है ।

सौन्दर्य जब मगल बनकर आता है तभी श्रेष्ठ कला की सृष्टि होती है । कवीन्द्र रवीन्द्र के शब्दो मे 'सौन्दर्य की मूर्त्ति मगल की पूर्ण मूर्त्ति है और मगलमूर्त्ति ही सौन्दर्य का पूर्ण स्वरूप है ।" सौन्दर्य के साथ जब मगल का इस रूप मे सम्मिलन होता है तब कला विलास की वस्तु नही रह जाती । कला मगल का वाहन बनकर सच्चे अर्थ मे सौन्दर्य-बोध को जागरित करती है और हम कलात्मक दृष्टि लेकर जीवन और जगत को देखने लगते है । गाँधीजी ने इसी दृष्टि से जीवन को देखा था और इसके अनुरूप अपने जीवन को गठित किया था । वेश-भूषा के विन्यास मे किसी प्रकार का कृत्रिम आडबर न होने पर भी उनके नित्य के जीवन मे कलात्मक सौन्दर्य्य का अभाव नही था । अपने जीवन को उन्होने इस प्रकार छन्दोमय बना लिया था कि उसमे कही कुछ बेसुरा-पन रही नही गया था । वाणी एव कर्म मे एकतानता थी और कही किसी

प्रकार की विश्रृंखला नही पायी जाती थी । जिसका जीवन इस प्रकार छन्दोमय बन जाता है , जो अपने जीवन को एक शिल्पी की भाँति क्रमश एक ढाँचे पर ढाल कर उसे सब प्रकार से सुसयत एव सुसामञ्जस्य-पूर्ण बनाता है उसका जीवन अपनी महिमा से आप धन्य बन जाता है और उसके जीवन को लेकर कवि एव शिल्पी श्रेष्ठ कलाकृतियो की सृष्टि करते है । बुद्ध और ईसा के चरित्र को लेकर न मालूम कितने-कलाकारो ने अपनी लेखनी और तूलिका को सार्थक बनाया है । उसी प्रकार गाँधीजी का तप पूत जीवन भी भविष्य के कवियो एव कलाकारो के लिए कला के उपादान जुटायगा ।

गाँधीजी ने जब श्री दिलीपकुमार राय से बताया कि सन्यास ही जीवन का सब से बडा शिल्प है तो वे एकबारगी चकित हो उठे । भला सन्यास के साथ शिल्प का क्या सबध हो सकता है । महात्माजी ने उनकी शका का समाधान करते हुए कहा—"शिल्प क्या है ? सरल सुषमा ही तो शिल्प है । और सन्यास क्या है ? सरलतम सुषमा को प्रति-दिन के जीवन मे परम सुन्दर रूप से प्रस्फुटित करना । इसलिए जीवन को सब प्रकार की कृत्रिमता एव आडम्बर से रहित करके जब उसे सहज, सरल एव स्वाभाविक रूप मे विकसित होने दिया जाता है तब वह जीवन एक कलाकार का ही जीवन होता है । इस अर्थ मे ही एक सच्चे सन्यासी का जीवन कलाकार का जीवन होता है ।"

श्रीमती आगथा हेरिसन ने जब गाँधीजी से यह प्रश्न किया कि आप एक टुकडी जमीन मे फुलवारी लगाने की राय क्या नही देगे ? हमारे अन्त करण की परितृप्ति के लिए रग और सौन्दर्य का प्रयोजन है । उत्तर मे गाधीजी ने कहा—"शाक-सब्जियो मे रग का जो सौन्दर्य है उस सौन्दर्य का उपभोग करने का अभ्यास हमे अपने अदर डालना चाहिये । निर्मल निरभ्र आकाश मे भी सौन्दर्य है । हम इस सौन्दर्य को न देखकर इन्द्रधनुष के रगो का सौन्दर्य देखना चाहते है जो दृष्टिगत

श्रम के सिवा और कुछ नही है । हमे यह सिखलाया गया है कि जो सुन्दर है वह उपयोगी नही है और जो उपयोगी है वह सुन्दर नही हो सकता । मैं यह दिखलाना चाहता हू कि जो उपयोगी है वह सुन्दर भी हो सकता है ।"

(We have been taught to believe that what is beautiful need not be useful and what is useful cannot be beautiful I want to show that what is useful can also be beautiful)

कला मे सुन्दरम् एवं शिवम् के बीच क्या सम्बन्ध होना चाहिये और सुन्दर के साथ शिव का समावेश आवश्यक है या नही इस बात को लेकर समालोचकों मे बहुत समय से मतभेद चला आ रहा है । जो लोग कला का विभाजन उपयोगी कला और ललित कला इन दो वर्गों मे करते है वे उपयोगी कला (craft) को ललित कला की अपेक्षा इसलिए हीन मानते है कि उसमे उपयोगी तत्त्व की प्रधानता है । उपयोगी कलाओ द्वारा हमारा लौकिक प्रयोजन जिस रूप मे सिद्ध होता है उस रूप मे ललित कलाओ द्वारा नही । किन्तु इसका यह अर्थ नही कि ललित कला सर्वथा प्रयोजनातीत है । गाधीजी उपयोगी कलाओ मे जिस प्रकार सौन्दर्य देखते थे उसी प्रकार ललित कलाओ मे भी । उनका विचार यह नही था कि उपयोगिता के स्पर्श से कला हीन बन जाती है । साग-सब्जी की हरीतिमा मे जिस प्रकार उन्हे सौन्दर्य दिखायी पडता था उसी प्रकार एक गुलाब या कमल के फूल मे भी । किन्तु एक दल कला-पारखी ऐसे है जो यह मानने के लिए तैयार नही है कि एक गुलाब या कमल के फूल मे जो कलात्मक सौन्दर्य है वह किसी हरे-भरे खेत या साग-सब्जी की हरियाली मे हो सकता है । उनका सूक्ष्म सौन्दर्य-बोध उपयोगिता के स्थूल स्पर्श से क्षुण्ण हो उठता है । जीवन की प्रयोजनीय वस्तुओ के साथ कला का यह जो विच्छेद है वह वर्तमान सभ्यता के रुग्ण होने का लक्षण है । जैसा कि हर्बर्ट रीड ने कहा है—" It is this horrible distinction between art

and ordinary things, between artist and ordinary men, which is the mark or symptom of the disease of our civilisation" भावी समाज मे एक कलाकार और एक कारीगर के बीच किसी प्रकार का भेद नही रह जायगा और समाज के मंगल के लिए दोनों समान रूप मे आवश्यक समझे जायेंगे। मनीषी एमर्सन भी ललित कला और उपयोगी कला के भेद को मिटा देना चाहते थे। यदि महत् रूप से जीवन-यापन किया जाय तो उपयोगिता और सौन्दर्य का भेद मिट जायगा। प्रकृति मे सब कुछ उपयोगी, सब कुछ सुन्दर है। प्रकृति जीवन्त है, गतिशील है और नित नूतन सृष्टि करने की उसमे क्षमता है इसलिए वह सुन्दर है। वह सुडौल और सुन्दर है इसलिए उपयोगी है "

"Beauty must come back to the useful arts, and the distinction between the fine and the useful arts be forgotten If history were truly told, if life were nobly spent, it would be no longer easy or possible to distinguish the one from the other In nature all is beautiful It is therefore beautiful, because it is alive, moving, reproductive, it is therefore useful, because it is symmetrical and fair"

कलाविद् रस्किन के मत मे वही कला श्रेष्ठ कला कही जा सकती है जिसके द्वारा दर्शक के मन मे अधिक से अधिक भाव सचारित हो सके। जो कलाकार अपनी कृतियो मे सर्वाधिक महत् भावो का सन्निवेश कर सकता है वही सब से बडा कलाकार समझा जायगा। "

"But I say that the art is greatest which conveys to the mind of the spectator, by any means whatsoever, the greatest number of

greatest idea, He is the greatest artist who has embodied, in the sum of his works, the greatest number of the greatest ideas"

किन्तु कला के सम्बन्ध मे गाधीजी की दृष्टि केवल उसकी प्रयोजनीयता और अप्रयोजनीयता तक ही सीमाबद्ध नही थी। लौकिक प्रयोजन की वस्तुओं मे जहाँ वे कलात्मक सौन्दर्य का दर्शन करते थे वहाँ वे ललित कलाओं मे जो अन्तर्निहित सौन्दर्य है उसे भी स्वीकार करते थे। उनके नित्य के जीवन मे प्रार्थना के समय भजन अवश्य गाये जाते थे और सगीत मे उन्हे कितना प्रेम था यह सब लोग जानते है। गाधीजी की कलात्मक दृष्टि कला के सौन्दर्यतत्व से ऊर्ध्व जीवन पर निबद्ध थी। अर्थात् वे सम्पूर्ण जीवन को ही एक कलात्मक रूप देना चाहते थे। इसलिए जीवन की कला ही उनके लिए सबसे बडी कला थी। वह जीवन जो निरन्तर जागरूक बनकर साधना के पथ पर अग्रसर हो रहा है, जो महत् से महत्तर बनता जा रहा है और जिसका लक्ष्य परिपूर्णता प्राप्त करना है, इस प्रकार के साधक का जीवन ही वास्तव मे कलात्मक जीवन कहा जा सकता है और उसके स्वाभाविक एव सन्तुलित जीवनछन्द मे एक सगीतात्मक लय की सृष्टि आप से आप होती रहती है। अनवरत साधना के द्वारा साधक ज्यो-ज्यो सत्य के समीप पहुँचता जाता है त्यो-त्यो उसका जीवन शुचि, शुभ्र एव समुज्वल बनता जाता है। जीवन की यह जो शुचिता है, गाधीजी की दृष्टि मे वही महत्तम एव सत्यतम कला है। जब तक सत्य की साधना द्वारा जीवन मे यह शुचिता नही आती तब तक केवल स्वर-साधना द्वारा जीवन की कला आयत्त नही की जा सकती। स्वरसाधना द्वारा जिस सगीत की सृष्टि होती है उसी सगीत की सृष्टि अपने पवित्र जीवन के समतान से कर दिखाने की क्षमता विरले ही जन मे पायी जाती है। I can say that purity of life is the highest and truest art. The art of producing good music

from a cultivated voice can be achieved by many, but art of producing that music from the harmony of a pure life is achieved very rarely इसलिए गाधीजी कला की चरम सार्थकता इस बात मे मानते थे कि उसके साधक को सत्य के सन्धान मे सहायता मिलती है। जो कला मनुष्य के जीवन को ऊर्ध्वगामी बनाने मे, आत्मोपलब्धि मे सहायक सिद्ध हो वही वस्तुत कला है। These productions of man's art have their value only so far as they help the soul onwards towards self-realisation रस्किन ने भी श्रेष्ठ कला की एक विशेषता यह बतलायी है कि उसमें सत्य अधिक से अधिक मात्रा मे समतान मे अन्तर्निहित रहता है।

गाधीजी की दृष्टि मे सत्य, शिव और सुन्दर तीनो ही पर्यायवाची शब्द थे। अर्थात् जो सत्य है वही शिव और सुन्दर भी है। सत्य क्या है ? सत्य है किसी वस्तु का चरम, परम रूप ultimate reality of thing प्रत्येक वस्तु के अन्दर मे उसका जो एक तत्त्वरूप होता है, उसका जो सुसम सौन्दर्य होता हे उसकी उपलब्धि के लिए मन का उदात्तीकरण करना होगा, एक दिव्य सौन्दर्य से उसे मण्डित करना होगा। जो सौन्दर्य को विकृत मन लेकर देखेगा वह उसके स्थूल को छोड कर सूक्ष्म को ग्रहण नही कर सकेगा और उससे आहरण करेगा केवल हलाहल। सुन्दर के अन्तर्निहित छन्दोमय रूप का उपभोग वे ही कर सकते है जिनका चित्त पवित्र एव शुभ्र है, जो वस्तु को छोडकर उसके उर्ध्व रुप मे, देह को छोड कर देहातीत मे जाना चाहते है। जैसा कि प्लेटो ने लिखा है: "Of all the ideas Beauty has the most universal and strongest appeal, and the beauty of earth moves men because it is a reflection of an eternal beauty and wakes the sense of it in them. सौन्दर्य का प्रभाव मनुष्य के मन पर सबसे बढकर पडता है और पार्थिव

सौन्दर्य मनुष्य को इसलिए प्रभावित करता है कि यह शाश्वत सौन्दर्य की प्रतिच्छाया होता है और उसके अन्तर मे उस सौन्दर्य की चेतना जाग्रत करता है ।" इस प्रकार जब सौन्दर्य मे सत्य का सन्दर्शन होने लग जाता है तब दोनो मे कोई भेद नही रह जाता और कला का सच्चा रूप उस सौन्दर्य मे प्रतिफलित हो उठता है । Whenever men begin to see beauty in truth, then true Art will arise. जब लोग सत्य मे सौन्दर्य का दर्शन करने लगेगे तभी सच्चे अर्थ मे कला की सृष्टि होगी । जैसा कि अगरेज कवि कीट्स का कथन है, "Beauty is truth, truth beauty. गाधीजी की दृष्टि मे सत्य से पृथक् किसी सौन्दर्य का अस्तित्व हो ही नही सकता । (There is then, as I have said, no Beauty apart from Truth)

कला के सम्बन्ध मे समीक्षको मे एक यह धारणा प्रचलित रही है कि उसका रसनिवेदन सर्वजन-ग्राह्य नही हो सकता । अर्थात् कला और साहित्य की रसोपलब्धि केवल थोडे से मनुष्य ही कर सकते है जिनकी शिक्षा-दीक्षा विशेष रूप से इसके लिए हुई है । साधारण शिक्षित मनुष्यो के लिए कला के गजदन्तनिर्मित मन्दिर मे प्रवेश करना सहज नही है । उसके सौन्दर्य का रहस्योद्घाटन वे ही कर सकते है जो सौन्दर्यतत्त्व के ज्ञाता है और जिनका रसबोध सूक्ष्म है । स्थूल बुद्धि लेकर कला का आनन्द नही उठाया जा सकता । किन्तु गाधीजी का मत इसके विपरीत था । उनके विचार से जिस कला का रसनिवेदन सार्वजनीन होगा, जिसकी रसोपलब्धि के लिए किसी विशेष प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता नही होगी और जिसका मर्म करोडो मनुष्यो के लिए बोधगम्य होगा वही वास्तविक कला कही जा सकती है । कला के सम्बन्ध मे गाधीजी जब विचार करते थे तब अन्य क्षेत्रो की तरह यहाँ भी वे देश के लाखो-करोडो मनुष्यो को नही भूलते थे । 'I want art and literature that can speak to the millions. दिलीपकुमार राय के साथ कला के सम्बन्ध मे विचार-विनिमय करते हुए गाधीजी ने स्पष्ट रूप

मे कहा था कि मे ऐसी कला को श्रेष्ठ कला नही मानता जिसकी उपलब्धि केवल कलापारखी ही कर सकते हे । जिस प्रकार प्रकृति के सौन्दर्य का उपभोग सब लोग कर सकते है, उसके लिए किसी टेकनीक की आवश्यकता नही होती उसी प्रकार कला का आनन्द भी सार्वजनीन होना चाहिये । कला को समझने के लिए यदि माथा-पच्ची करनी पडे तो वह कला कला नही है । जिस प्रकार प्रकृति मे कोई दुराव-छिपाव नही होता और वह सहज रूप मे अपने सौन्दर्य का प्रकाश करती है, उसी प्रकार कला का आनन्ददान भी सहज एव सर्वजनसुलभ होना चाहिये । गाधीजी सगीत तथा अन्य कलाओ मे आनन्द-दान की जो क्षमता है उसे तो मानते थे और वे इन सब कलाओ से प्रेम भी करते थे, किन्तु टेकनीक की दृष्टि से कला को जो मूल्य दिया जाता था उसे वे स्वीकार नही करते थे । ऐसा प्रतीत होता है कि कला के सम्बन्ध मे गाधीजी ने यह धारणा बहुत-कुछ टालस्टाय के कला-सम्बन्धी विचार से प्रभावित होकर ग्रहण की थी । टालस्टाय ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक "What is art ?" मे कला के सम्बन्ध मे गाधीजी की तरह ही धारणा ग्रहण की थी । टालस्टाय के विचार से कला का जो भावी रूप होगा वह सब लोगो के लिए बोधगम्य होगा । उस समय कला को समझने के लिए आज की तरह टेकनीक की आवश्यकता नही होगी । उस समय उसमे सरलता, स्पष्टता एव सक्षिप्तता होगी । और यह सब किसी यत्रबद्ध प्रणाली से नही होगा बल्कि लोगो की शिक्षा ही इस रूप मे होगी जिससे उनकी रुचि कलात्मक बन जायगी और उनकी इस सुरुचि का ही प्रकाश कला में होगा ।

कला के प्रति गाधीजी के दृष्टिकोण की ऊपर जो विवेचना की गयी है उससे यह स्पष्ट है कि गाधीजी कला को जीवन से पृथक् कोई अलौकिक वस्तु नही मानते थे । कलाकार कल्पनालोक में विचरण करनेवाला प्राणी होता है और कला की सौन्दर्यानुभूति जनजीवन से विच्छिन्न कोई 'दिव्य अनुभूति' होती है यह गाधीजी नही मानते थे ।

गाधीजी मानवप्रेमिक थे साथ ही वे जीवनशिल्पी भी थे । इसलिए कला और साहित्य की श्रेष्ठता की एकमात्र कसौटी उनके लिए मानव-कल्याण था । जो साहित्य, जो कला मनुष्य के विचारो को उच्च, उदार एव महत्, उसके आचरण को सुशोभन एव पवित्र नही बनाती, उसके समस्त जीवन को एक कलात्मक रूप प्रदान नही करती उस कला का गाधीजी की दृष्टि मे कोई विशेष मूल्य नही था । केवल गाधीजी ने ही नही रस्किन, टालस्टाय, एमर्सन आदि अनेक पाश्चात्य मनीषियो ने भी इसी प्रकार का मनोभाव कला के प्रति व्यक्त किया है । जो मानव-प्रेमिक होते है, जिन्होने अपने व्यक्तित्व को अखिल मे प्रसारित एव परिव्याप्त कर दिया है, दूसरे के सुख-दु ख को जो माता का ममतापूर्ण हृदय लेकर देखते है ऐसे महानुभावो को केवल इतने से ही सन्तोष नही हो सकता कि उनका व्यक्तिगत जीवन महत्तर, पवित्र-तर एव सुन्दरतर है, उनकी रुचि परिमार्जित और सौन्दर्यबोध जाग्रत है । वे तो मनुष्यमात्र के जीवन को सुष्ठु एव सुन्दर बनाना चाहते है । वे मनुष्य को सब प्रकार की हीनता, कदर्यता एव क्षुद्रता से मुक्त करके उसके व्यक्तित्व को गौरवगरिमा से मण्डित करना चाहते है । इसलिए शिक्षा-दीक्षा द्वारा वे मनुष्य के जीवनक्रम को ही इस रूप मे ढाल देना चाहते है जिससे स्वत उसके आचार-विचार और मनोभाव मे एक सुसामञ्जस्य, एक सौष्ठव, एक मर्यादा परिलक्षित होने लगे और समस्त जीवन मधुमय बन जाय ।

इसलिए कलाकार का काम केवल कला की सृष्टि करना ही नही है बल्कि अपनी कलाकृतियो द्वारा दर्शको, पाठको या श्रोताओ के मन पर इस प्रकार का प्रभाव डालना है जिससे उनके अदर भी कलाकार के कलात्मक गुणो को अर्जित करने की अभिलाषा उत्पन्न हो । कलाकार के अन्तर में जो आध्यात्मिक आकाक्षा जाग्रत हो उठती है और उसके समग्र जीवन को अभिभूत कर लेती है वही आकाक्षा प्रत्येक व्यक्ति के अतर मे उदीप्त हो उठे । कलाकार को अपनी कलाकृति को अपनी

सर्जनात्मक शक्ति का मूर्त रूप मानकर ही सतोष नही कर लेना चाहिये बल्कि दूसरे लोगो मे सृष्टि करने की जो क्षमता है उसके विकास की ओर भी उसका ध्यान जाना चाहिये । विधाता की ओर से उसे जो कलात्मक प्रतिभा दानस्वरूप मिली है वह इसलिए नही कि वह जन-गण से पृथक् अपने लिए कला की सर्जना करे वरन् इसलिए कि विशाल मानवता को एक नया रूप देने के लिए वह सब लोगो के बीच मे जाय और प्रत्येक व्यक्ति को उस मानवता के साँचे मे इस तरह ढाल दे जिससे प्रत्येक नरनारी अपनी इच्छाशक्ति के द्वारा जगत् के ऊपर अपना प्रभुत्व स्थापित करने की अपनी क्षमता को और इस रूप मे जीवन के मर्म को हृदयङ्गम कर ले । जब सब लोग जीवन-शिल्पी बन जायँगे, तभी कलाकार का काम समाप्त होगा , इससे पहले नही । When all are artists then the work of the artist is over, but not till then. (c. Jinarajadasa)

जिस कल्पनाशक्ति की प्रचुरता मनुष्य को कवि बनाती है और जिस शक्ति के सहारे कवि के तृतीय नयन उन्मीलित हो जाते है और सब कुछ मे उसे एक अपरूप सौन्दर्य दिखायी पडता है वह कल्पना-शक्ति गाधीजी मे थी । उनकी इस कल्पनाशक्ति की अभिव्यक्ति मानव के प्रति करुणा-कोमल प्रेम के रूप मे हुई थी । अत कला एव सौन्दर्य-बोध की परिणति वे मानवकल्याण के रूप मे ही देखना चाहते थे । स्वय उनमे सौन्दर्यबोध जाग्रत था । उनकी रुचि अत्यन्त परिमार्जित थी और अपने जीवन की सादगी मे भी वे सौन्दर्य की झलक ला देते थे । सगीत से उन्हे अनुराग था और श्रेष्ठ सगीत सुनते-सुनते वे तल्लीन हो जाते थे । प्राकृतिक सौन्दर्य के वे पुजारी थे । मध्य रात्रि की निर्जनता मे तारो भरा आकाश उनकी सौन्दर्यस्पृहा को तृप्त करता था, विश्वस्रष्टा की सृष्टि मे जो सौन्दर्य है उसके प्रति सचेतन कर देता था । इस प्रकार सौन्दर्य के माध्यम से वे उस सत्य की उपलब्धि करते थे जो सत्य उनके जीवन का चरम लक्ष्य था । सत्य और सौन्दर्य दोनो को अभिन्न समझ

कर उन्होंने दोनों को अपने जीवन में ग्रहण किया और उसके अनुकूल अपने जीवन और आचरण को सहज, सरल एवं निराभरण सौन्दर्य से महिमान्वित किया। उन्होंने स्पष्ट कहा था "Truth and beauty I crave for, live for, and would die for" अर्थात् सत्य एवं सौन्दर्य की ही मुझे पिपासा है, इसके लिए ही मेरा जीवन है और उसके लिए मैं मृत्यु तो भी वरण करूँगा।

अतीत काल मे साहित्य की रचना मुख्यत व्यक्तिविशेष के जीवन के सुख-दुःख, आशा-आकाक्षाओ को लेकर हुआ करती थी । उसका रसनिवेदन समाज के एक विशेष वर्ग या श्रेणी तक ही सीमाबद्ध था । उसमे समाज का वृहत्तर जीवन प्रतिफलित नही होता था । किन्तु वर्तमान युग मे साहित्य का चैतन्य बहुत व्यापक एव प्रसारित हो गया है । प्राचीन या मध्य युग की तरह अब उसमे केवल व्यक्ति-विशेष अथवा वर्ग-विशेष के जीवन का चित्रण नही होता, चाहे वह व्यक्ति कितना ही महान क्यो न हो, और वह वर्ग आभिजात्य एव कुलीनता की गौरव-गरिमा का कितना ही दावा क्यो न करे । आज साहित्य के दरबार मे समाज के निम्नतम स्तर को भी स्थान मिल रहा है । अब तक समाज के जो सब अश साहित्य की परिधि के बहिर्गत थे, उनका समावेश भी अब साहित्य के अन्त पुर मे होने लगा है । यही युग-धर्म है जिसकी अवहेलना आज का साहित्य नही कर सकता ।

सुदीर्घ काल की पराधीनता के बाद भारतवर्ष आज मुक्त होकर आत्म-प्रतिष्ठ हो रहा है । आज सर्वत्र राष्ट्र-निर्माण के लिए कर्म का आह्वान हो रहा है, कर्म की प्रेरणा जागरित की जा रही है, वृथा वाग्-जाल नही, कर्म चाहिये । राष्ट्रनिर्माण एव नूतन रूप मे समाज-गठन के लिए ठोस कार्य करना होगा, यही आवाज आज चारो ओर से उठायी

जा रही है और इस रव मे हमारे जीवन का प्रत्येक स्तर चचल एव मुखरित हो रहा है । जो लोग अब तक मूक, हीन, उपेक्षित एव पद-दलित थे, वे भी अब अपने अधिकारो एव स्वत्वो का दावा लेकर आगे बढ रहे हैं । राष्ट्रनिर्माण मे वे भी अपना यथोचित अश ग्रहण करना चाहते हैं । इसलिए वर्तमान समाज का कर्म-चचल जीवन आज बृहत्तर रूप मे साहित्य मे प्रतिफलित होने लगा है । इस कर्म-जगत् के साथ साहित्य का घनिष्ठ सयोग आज अपेक्षित है । अब तक साहित्य अतीत के इतिहास को, हमारे समाज-जीवन और उसकी गति-विधियो को अपनी कल्पना की दृष्टि से देखता और अपने मे उन्हे प्रति-फलित करता आ रहा था । किन्तु अब इतने से ही काम नही चल सकता । अब साहित्य को अपनी प्रतिभा एव कल्पना के सहारे नूतन इतिहास की सृष्टि मे योगदान करना होगा । इसके लिए यह केवल वाञ्छनीय ही नही बल्कि आवश्यक भी है कि साहित्य-स्रष्टा, सरकार और विश्व-विद्यालयो के बीच घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित हो और इनके परस्पर के सहयोग से साहित्य-सृष्टि का कार्य पूर्ण उद्यम के साथ बढाया जाय ।

इस सम्बन्ध मे कुछ बाते ऐसी है जिनकी ओर हमारे साहित्यिको का ध्यान आकृष्ट होना आवश्यक है । पहली बात यह है कि सब प्रकार की क्षुद्रता एव सकीर्णता का परित्याग करके हमारे साहित्यिको को अपना दृष्टिकोण व्यापक बनाना होगा । भारत-सघ की जो अखड राष्ट्रीयता है, उसकी महिमा-मूर्ति कभी हमारी दृष्टि से ओझल न हो । अपने प्रदेश को दृष्टिगत रखते हुए भी हम अपने पडोस के प्रदेशो को न भूले । प्राचीन सभ्यता एव सस्कृति के प्रति पूर्ण आस्था एव अनुराग रखते हुए भी हम मोहान्ध बन कर अन्य सभ्यताओ एव सस्कृतियो के प्रति अनुदार एव असहिष्णु न बने ।

दूसरी बात यह है कि हमारे साहित्यिको को समाज के विभिन्न स्तरो तथा विभिन्न प्रदेशो की भावधाराओ के साथ हिन्दी साहित्य का योग-सूत्र स्थापित करना होगा । अन्यान्य प्रादेशिक साहित्यो के जो कवि

एव लेखक हे, उनके साथ हिन्दी के साहित्यिको का आलाप-सलाप तथा भावो का आदान-प्रदान समय-समय पर हो सके इसके लिए अन्तर-प्रादेशिक साहित्य सम्मेलन की व्यवस्था करनी होगी। एक साहित्य से दूसरे मे विशिष्ट ग्रन्थो के अनुवाद द्वारा भी यह कार्य सम्पन्न हो सकता है।

तीसरी बात यह है कि आज ससार के विभिन्न देशो का पारस्परिक सम्बन्ध घनिष्ठ से घनिष्ठतर होता जा रहा है और सब देशो का साहित्य स्वतन्त्र राष्ट्रीय विचारधाराओ से न्यूनाधिक रूप मे प्रभावित हो रहा है। कोई भी साहित्य अपने को इस प्रभाव से वञ्चित नही रख सकता। विदेशी साहित्य के अनुवाद आज हिन्दी मे धडल्ले से हो रहे है—विशेषत मार्क्सवादी साहित्य के। हिन्दी के आधुनिक कवि और लेखक मार्क्सवादी विचारधाराओ से जितना प्रभावित हो रहे हैं उतना अन्य किसी विचारधारा से नही। ऐसा होना अवाञ्छनीय या अशोभन नही कहा जा सकता। किन्तु इस सम्बन्ध मे एक बात पर ध्यान रखना आवश्यक है। आज के इस सस्कृति-सकट और मानसिक विप्लव के दिनोमे हमारे साहित्यिको को सत्यपथ का सन्धान करना होगा। उन्हे आतमस्थ होकर अपने देश की परम्परा एव सस्कृति का नये सिरे से आविष्कार करना होगा। सयुक्त राष्ट्र सघ और सुरक्षा-समिति मे जहाँ विभिन्न राष्ट्रो के बीच स्वार्थ-सघात और परस्पर अविश्वास, सन्देह और दोषारोपण ही विशेष रूप मे दिखायी पड रहे है, वहाँ एक-मात्र भारत ही सत्य एव न्याय का पक्ष ग्रहण करके खडा है। थोडे समय के अन्दर ही पश्चिम के प्रबल राष्ट्रो के बीच भारत की मान-मर्यादा और प्रतिष्ठा बहुत बढ गयी है। गाँधी जी ने अपनी जीवन-व्यापी साधना द्वारा सत्य एव अहिसा की जो अलख जगायी थी उसके सौन्दर्य की उपलब्धि सारा जगत् क्रमश करने लगा है। गाँधीजी की वाणी को जिस रूप मे प० जवाहरलाल नेहरू ने अमेरिका की जनता के सम्मुख वहन किया और उस वाणी के प्रति वहाँ के शिक्षित जनगण ने जैसी

श्रद्धा प्रदर्शित की उससे क्या यह प्रतिभासित नहीं होता कि भारत की सभ्यता एवं संस्कृति में कोई ऐसी वस्तु है जो अपनी विशेषता के कारण सभ्य देशों का ध्यान आकर्षित किये बिना नहीं रह सकती। भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति की यह जो विशेषता है, यही उसकी सबसे बड़ी संपदा है। इसी वैशिष्ट्य के ऊपर हमारी संस्कृति आधारित है और यही उसका मूल है। युग-युग से इसी से हम प्राण-रस ग्रहण करते आ रहे हैं, जिससे हमारा जातीय जीवन पुष्पित एवं पल्लवित हुआ है। इसीलिए आधुनिकता के मोह में पड़ कर अतीत की सर्वथा उपेक्षा न कर दें और न यही समझ बैठें कि भारतीय संस्कृति अब एक पर्यवसित शक्ति (Spent up force) के सिवा और कुछ नहीं रह गयी है। जिस संस्कृति ने युग-युगान्तर से विभिन्न जातियों की संस्कृतियों को विशुद्ध करके उन्हें आत्मसात् कर लिया है उनके साथ सामंजस्य-विधान किया है उस संस्कृति की फल्गुधारा आज भी अक्षुण्ण बनी हुई है। जिस प्रकार उसने अब तक समन्वय द्वारा अपने को सजीव बनाये रखा है उसी प्रकार कौन कह सकता है कि वह भविष्य में भी यूरोप और अमेरिका की विचारधाराओं के साथ समन्वय रख कर अपनी सजीवता का प्रमाण देने में समर्थ न हो। जिस दिन भारतीय संस्कृति की यह जययात्रा सफल होगी उस दिन सचमुच गाँधी जी का स्वप्न चरितार्थ हो उठेगा और संसार को भारतीय संस्कृति के वैशिष्ट्य का नूतन रूप में परिचय मिलेगा।

हमारे साहित्यिक अपने इस गुरुगम्भीर दायित्व के सम्बन्ध में सचेत हो जायँ। संस्कृति-समन्वय की यह साधना एक मात्र उन्हीं के द्वारा चरितार्थ हो सकती है। कवि और साहित्यिक ही तो सच्चे अर्थ में जादूगर होते हैं। जनता के मनोराज्य पर उनका एकछत्र अधिकार है जहाँ से कोई भी राजशक्ति उन्हें च्युत नहीं कर सकती। वे पाठकों के हृदय और मन पर अभिन्न रूप में अपने प्रभाव का विस्तार कर सकते हैं। यह दायित्व-ज्ञान लेखक की स्वाधीनता को उसकी सृष्टि-शक्ति की

अभिव्यक्ति मे सहायता प्रदान करेगा । इस अर्थ मे यह दायित्व बाहर की कोई वस्तु न होकर सृष्टिशक्ति का ही एक पूरक अश है । फिर यह भी तो असन्दिग्ध रूप मे नही कहा जा सकता कि सृष्टि-कार्य मे लेखक सर्वथा स्वाधीन है । आवेष्टनगत प्रभाव से सर्वथा मुक्त रह कर वह सृष्टिकार्य करता है और उसकी रचनाओ मे उसके व्यक्तित्व का ही प्रकाश होता है, यह बात भी सर्वमान्य नही । इसलिए हमारे साहित्यिक देश एव देशवासियो के प्रति उनका जो दायित्व है उस पर ध्यान रख कर भविष्य की सम्भावनाओ पर दृष्टि रखते हुए यदि साहित्य की रचना करे तभी उनका साहित्य सच्चे अर्थ मे राष्ट्र की आशा-आकाक्षाओ की प्रतिध्वनि बनेगा । देश की जनता के अन्तर मे जो भावनाएं अभि-व्यक्ति के लिए उद्वेलित हो रही है, उनकी मूर्ति और वाणी इस साहित्य मे पाकर जनता अपने को कृतार्थ समझेगी ।

हमारा प्राचीन साहित्य—भक्ति काल का सत साहित्य तथा वैष्णव भगवत्प्रेम-मूलक साहित्य—हमारी सस्कृति का अक्षय ऐश्वर्य्य है । इस साहित्य ने हमारे हिन्दी साहित्य का जितना वरेण्य बनाया है, उतना अन्य किसी भी प्रान्तीय भाषा के साहित्य को नही । सूर, तुलसी और कबीर आज भी हमारे साहित्य के गौरव-स्तम्भ बन हुए है । मध्ययुग के रीति-कालीन साहित्य मे हमे समाज के उस अश का चित्रण मिलता है जो जीवन के मासल सुखभोग मे लिप्त रह कर जीवन-रस का सपूर्ण पान करना चाहता था । यह साहित्य विलासिता एव ऐश्वर्य्य के आडम्बर युग का साहित्य है । तृतीय युग के साहित्य मे हम जाति के आहत स्वाभि-मान की अभिव्यक्ति पाते है । देश-प्रेम, अतीत गौरव की स्मृति और वर्तमान अधोगति के प्रति क्षोभ एव ग्लानि, अदृष्टवाद के विरुद्ध विद्रोह तथा विदेशी शासन के प्रति क्षमा-हीन आक्रोश इस साहित्य की विशेषता है । बीसवी शताब्दी के द्वितीय दशक तक हमारे साहित्य मे इसी प्रवृत्ति की प्रधानता रही । आधुनिक हिन्दी साहित्य मे हम जिस भावधारा का विकास देख रहे है, वह तृतीय युग के साहित्य का स्वाभाविक परि-

णाम है । इस साहित्य मे मनुष्य पार्थिव जीवन-यात्रा की वास्तविक-ताओं के बीच अपने को खोज रहा है, आशा-आकाक्षाओ की पूर्ति मे व्यक्ति अपने जीवन की सार्थकता, समष्टि प्रेम मे प्राप्त करने की चेष्टा कर रहा है । आज व्यष्टि अपने जीवन की महिमा समष्टि की महिमा मे उपलब्ध करने के लिए एक नूतन दृष्टि लाभ करना चाहता है । समाज-जीवन के साथ व्यक्ति अपने जीवन के समन्वय मे ही अपना कल्याण देखता है । जीवन का यह जो विपुल समारोह है, उससे ही वह आकर्षित हो रहा है । व्यष्टि के जीवन की गति आज समाजोन्मुखी हो रही है । इसलिए साहित्य मे भी हम जीवन के इस विराट समारोह की ही झाँकी देखना चाहते है ।

जिस प्रकार जीवन की परिधि आज अत्यन्त व्यापक और उसकी चेष्टाएँ बहुमुखी बन गयी है, उसी प्रकार साहित्य का क्षेत्र भी व्यापक बनता जा रहा है । अब तक साहित्य का विशुद्ध रूप हम केवल कविता, उपन्यास, नाटक, और गल्प मे देखते आ रहे है । इन सबका सम्बन्ध वस्तु-ज्ञान या तत्व-निरूपण से न होकर रस-सृष्टि से था । यह रस इन्द्रियग्राह्य होने पर भी इसका आस्वादन लौकिक आनन्द से भिन्न होता है । इसका आधार मानव और उसका भौतिक जगत् होता है अवश्य, किन्तु इसकी अनुभूति मे मानसिक पक्ष की प्रधानता होती है । इसलिए साहित्य का जो यह रसानन्द है वह मनुष्य के जीवन को भौतिक दु खताप से मुक्त करके एक अभिनव कल्पना-लोक मे लाकर खड़ा कर देता है । इस मुक्ति का अर्थ वैराग्य-जनित मुक्ति नही है । यह मुक्ति हमें कर्मक्लान्त जीवन की कठोरता एव रूक्षता तथा वास्तविकता-जनित ग्लानि के बीच भी आनन्द-रस से सिंचित करती रहती है । इस प्रकार साहित्य का उपादान यद्यपि इन्द्रियग्राह्य भौतिक जगत होता है किन्तु साहित्य-रस से सिंचित होकर जब यह जगत हमारे सामने उपस्थित होता है तब हम उसे अपूर्व सुषमाओ से मण्डित पाते है । इससे हमारे प्राणो की पिपासा मिटती है और हमारे मन-प्राण आह्लादित

हो उठते ह । साहित्य का जो यह रस-निवेदन है, वह देश-काल-निर्विशेष चिरन्तन सत्य के रूप मे है, इसे अस्वीकार नही किया जा सकता । किन्तु इसके साथ ही हम इस सत्य को भी अस्वीकार नही कर सकते कि एक-एक युग मे साहित्य का रूप, उसकी दृष्टि-भगी, उसकी वर्णन-शली भिन्न-भिन्न हुआ करती है । यदि यह बात नही होती तो उसकी चिरनवीनता नष्ट हो जाती । जिस प्रकार एक देश दूसरे देश से भिन्न होता है, उसी प्रकार एक काल भी दूसरे काल से भिन्न होता है । देश, काल के अनुसार ही विषय-वस्तुओ तथा उन्हे देखने की भगी मे परिवर्तन होना रहता है । इसलिए युग-युग मे साहित्य की विषय-वस्तु एक होने पर भी उनका रूप-परिग्रह भिन्न होता है । साहित्य की यही प्रगति-शीलता उसकी सबसे बडी शक्ति है जिसके कारण वह मानवमन को गम्भीर रूप मे भी प्रभावित करता रहता है ।

हमारे साहित्यिको को युगधर्म के इस आह्वान पर ध्यान रख कर ही साहित्य की सृष्टि करनी होगी जिससे उनका साहित्य आज के जीवन के साथ ताल रख कर चल सके । राष्ट्र-निर्माण की दिशा मे जो बहुमुखी चेष्टाएँ चल रही है, एक नूतन राष्ट्र के प्राणो मे भविष्य के जो ज्योतिर्मय स्वप्न जग रहे है, जनगण के जीवन मे जो विराट चैतन्य देखा जा रहा है, उन सबका प्रकाशन हमारे आज के साहित्य मे होना चाहिये , तभी हमारे कर्म-मुखर जीवन का प्रतिफलन हमारे साहित्य मे होगा और हमारे साहित्यिक निर्माण-कार्य मे अपना गौरव-पूर्ण स्थान ग्रहण कर सकेगे । नूतन युग का यह साहित्य रसपरिपूर्णता के बीच अपने गुण एव शक्ति के बल पर समुचित स्थान ग्रहण करेगा और उसका अधिकार सुप्रतिष्ठित होगा ।

जो सब विषय विशुद्ध साहित्य के अन्तर्गत नही आते किन्तु, राष्ट्र-निर्माण मे जिनकी प्रयोजनीयता एव महत्ता किसी प्रकार भी कम नही है, उनकी ओर भी हमारे लेखको का ध्यान आकर्षित होना आवश्यक है । आज हम साहित्य को केवल मनोविनोद का साधन बना कर रखना

नहीं चाहते । उमे सच्चे अर्थ मे हम अपने कर्ममय जीवन का अनुप्रेरक बनाना चाहते ह् । इसके लिए यह आवश्यक है कि दर्शन, इतिहास, अर्थ-शास्त्र, भूगोल, वाणिज्य तथा विज्ञान की विभिन्न शाखाएँ-पदार्थ-विज्ञान, रमायन शास्त्र, जीव-विज्ञान, वनस्पति-विज्ञान मनोविज्ञान आदि के जो विद्वान है वे हिन्दी मे ग्रन्थो की रचना करे । हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी उच्च शिक्षा का माध्यम बन सके, इसके लिए इन मब विषयो पर ग्रन्थो का प्रणयन शीघ्र होना चाहिये । यह कहने की आवश्यकता नही कि इन मब विषयो मे हमारा साहित्य आज के इस वैज्ञानिक युग मे भी कितना दरिद्र एव अकिञ्चन है । आज कोई भी समुन्नत राष्ट्र केवल विशुद्ध साहित्य की रचना करके अपनी राष्ट्र भाषा की समृद्धि पर गर्व नही कर सकता और न केवल विशुद्ध साहित्य से हमारे राष्ट्र की प्रयो-जनीयता मिट सकती है । हमे इन सब विषयो मे साहित्य की रचना करके अपने साहित्य-भाण्डार को पूर्ण करना होगा । हाँ, इसके लिए यह आवश्यक है कि इस दिशा मे हमारे लेखको को, सरकार और विश्वविद्यालयो का पूर्ण सहयोग प्राप्त हो । विना इस सहयोग के साहित्य के इन अगो की पूर्णता असम्भव है और ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा का विस्तार भी व्यापक रूप मे नही हो सकता । इसलिए विशुद्ध साहित्य के साथ-साथ साहित्य के इन सब अगो की पुष्टि होनी चाहिए जिससे हमारा साहित्य ऐश्वर्य्य-सम्पन्न बन कर विश्व के श्रेष्ठ साहित्यो मे हमारे जातीय गौरव के अनुरूप अपना स्थान ग्रहण कर सके ।

सुन्दर और असुन्दर

सौन्दर्यतत्त्व की आलोचना करने नही बैठा हूँ । कारण, एक तो यह विषय अत्यन्त कठिन एव दुरूह है, दूसरे, सौन्दर्य की परिभाषा क्या है या सौन्दर्य किसे कहते है इस प्रश्न का उत्तर थोडे शब्दो मे देना सम्भव नही । सौन्दर्य शब्द इतना व्यापक है और इसके साथ मानव-मन का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि इसकी कोई सर्वजनसम्मत व्याख्या नही की जा सकती और न इसका कोई मानदण्ड ही निश्चित किया जा सकता है ।

साधारणत लोगो की यह धारणा है कि एक मात्र चक्षुरिन्द्रिय द्वारा ही रूप या सौन्दर्य की उपलब्धि की जा सकती है । किन्तु बात ऐसी नही है । इन्द्रियाँ तो वाहन मात्र है । सौन्दर्य की वास्तव अनुभूति तो हमारे मन को होती है । प्रत्येक बोध हमारे मन मे एक-एक कल्पना-मूर्ति को खडा कर देता है । इस बोध-प्रवाह द्वारा ही हमारे मन मे प्रत्येक क्षण न मालूम कितनी कल्पना-मूर्तियो का उत्थान एव तिरोधान होता रहता है । किसी सुदूर वन-प्रदेश मे खिलनेवाले फूल की गन्ध जब वायु द्वारा हमारी घ्राणेन्द्रिय तक पहुँचती है उस समय उस फूल के सौरभ से ही हमारे मन की परितृप्ति नही होती । हमारे चर्मचक्षुओ से उस फूल का अस्तित्व दूर—बहुत दूर होने पर भी हमारी बोधवृत्ति उस फूल की एक कल्पित मूर्ति हमारे मानस-पटल पर अकित कर देती है जिससे हमारे मन मे एक सुगन्धयुक्त फूल की धारणा उत्पन्न होती है ।

अनुभूति का मूल-स्रोत हृदय

सौन्दर्य का सम्बन्ध केवल हमारे चाक्षुष जगत् से ही नही, अन्तर्जगत् से भी होता है। अन्तर्जगत् के इस सौन्दर्य की उपलब्धि के लिए इन्द्रिय को वाहन बनाने का प्रयोजन नही होता, इन्द्रिय की पहुँच भी वहाँ तक नही हो सकती, वहाँ तक तो केवल कल्पना द्वारा ही पहुँचा जा सकता है। कल्पना द्वारा अपनी इस मानस-प्रिया की प्रतिमूर्ति रच कर उसके साहचर्य का आनन्द लाभ किया जा सकता है। अन्तर्जगत् ही क्यो, बाह्य दृश्यमान जगत् का सम्बन्ध भी हमारी अनुभूति से ही होता है। एक-एक अनुभूति जब हमारी कल्पना की विद्युत्-तरङ्ग को तरङ्गायित कर देती है उस समय हमारे मन पर इसकी जो प्रतिक्रिया होती है उसके अनुसार ही जगत् की प्रतिमूर्ति हमारे अन्तर मे उठ खडी होती है और तब इस मनोमय जगत् की प्रतिच्छाया हम बाह्य-जगत् पर आरोपित करते है। इस प्रकार हमारा बाह्य-जगत् भी हमारे अनभव के आधार पर प्रतिष्ठित हमारे मनोमय जगत् का ही रूप होता है।

इसलिए जगत् की कोई वस्तु असल मे सुन्दर या असुन्दर, शोभन या अशोभन नही है। उस वस्तु को देखकर हमारे मन मे जो अनुभूति उत्पन्न हुई और उसके अनुसार हमने अपने मन मे उसकी जो कल्पना-मूर्ति खडी की वह कल्पनामूर्ति ही सुन्दर या कुत्सित हुआ करती है। यही कारण है कि एक ही वस्तु किसी को सुन्दर और किसी को असुन्दर प्रतीत होती है। एक ही वस्तु के प्रति यह दो भाव क्यो ? कोई एक वस्तु सुन्दर और कुत्सित दोनों एक साथ तो नही हो सकती। असल कारण यह है कि इस वस्तु को प्रत्यक्ष कर के दो व्यक्तियो के मनोमय जगत् मे भिन्न-भिन्न कल्पना-मूर्ति उत्थित हुई और अपनी इस कल्पना-मूर्ति को ही उस वस्तु पर आरोपित करके उन दो व्यक्तियो ने उसे तदनुसार सुन्दर या असुन्दर समझा। इस प्रकार हम देखते है कि हमारे सौन्दर्य-बोध के मूल मे हमारी अनभूति की विचित्रता ही प्रधान रूप से

कार्य करती है । और इस विचित्रता के कारण ही नित्य नूतन रूप में जगत् के दृश्यपट हमारे सामने उपस्थित होते रहते हैं ।

सौन्दर्य और रुचि का सम्बन्ध

नर और नारी परस्पर के रूप-सौन्दर्य पर आकर्षित होते है । इस आकर्षण के मूल मे क्या केवल 'सेक्स-अपील' ही काम करती है ? यदि यह बात होती तो कोई भी स्त्री-पुरुष परस्पर आकर्षित हो सकते है, किन्तु व्यावहारिक जगत् मे हम ऐसा नही देखते । इस आकर्षण में व्यक्तिगत रुचि की ही प्रधानता देखी जाती है । यहाँ भी सुन्दर-असुन्दर का कोई निश्चित मानदण्ड नही देखा जाता । विभिन्न देशो और जातियो की बात तो दूर रही, एक ही देश और जाति के अन्दर भी यह रुचि-विभिन्नता विचित्र रूप मे देखी जाती है । सौन्दर्य का मानदण्ड अपनी-अपनी रुचि के अनसार लोग स्थिर कर लेते है । नर और नारी के रूप-सौन्दर्य के सम्बन्ध मे उनका निज का स्टैण्डर्ड ही प्रधान कारण होता है, इसी पर उनका सौन्दर्य-बोध निर्भर करता है ।

किसी जाति के स्त्री-पुरुष ने अपनी जाति के स्त्री-पुरुष के दैहिक गठन एव शारीरिक सौन्दर्य का जो स्टैण्डर्ड कायम कर लिया है वह स्टैण्डर्ड ही उनके लिए मान्य बन गया है । किन्तु उस जाति के समस्त स्त्री-पुरुष उस स्टैण्डर्ड के अनुसार ही अपनी सुरुचि अथवा कुरुचि का परिचय देते हो, ऐसा भी नही कहा जा सकता । इसलिए रुचि की विचित्रता पायी जाती है । इनका कोई सर्वजनमान्य स्टैण्डर्ड स्थिर नही किया जा सकता । साहित्यशास्त्र—काव्य और लक्षण-ग्रन्थो मे नायिका के रूप-सौन्दर्य का, उसके नख-शिख का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है, किन्तु यह वर्णन अक्षरश सत्य नही माना जा सकता । कभी-कभी तो यह वर्णन बहुत ही हास्यास्पद हो जाता है । तन्वी एव कोमलाङ्गी नायिका काम्य हो सकती है, किन्तु इस प्रकार की तन्वी नायिका को शायद ही कोई पसन्द करेगा जो अपनी साँस के झोके से ही दो कदम आगे

और दो कदम पीछे झूल जाय अथवा जो इतनी सुकुमार और कृशाङ्गी हो कि विस्तर झाडने पर भी जिसका पता मुश्किल से लगे ।

नर-नारी का परस्पर आकर्षण

एक बात और है । देश और काल का प्रभाव इस रुचि-विचित्रता पर कम नही पडता । प्राचीन काल मे नारी की रूप-सज्जा की जो उप-करण थे वे आज पसन्द नही किये जाते । वेशभूषा के विन्यास मे भी काफी अन्तर आ गया है । आज से दो-तीन पीढी पहले जिस वेशभूषा मे स्त्री सुन्दर समझी जाती थी उस वेशभूषा मे आज के युवको की दृष्टि मे वह अवश्य ही विलक्षण प्रतीत होगी । नाक मे लम्बी नथ के बदले आज कानो मे झूलनेवाले इयरिङ्ग अधिक पसन्द किये जाते है । लहँगा के वदले नये फैशन की साडी अधिक रुचिसम्मत समझी जाती है । अञ्जन-रञ्जित नयन की अपेक्षा आज कृत्रिम राग-रञ्जित अधरोष्ठ की ही अधिक महिमा है । विभिन्न जातियो मे देखिये तो यह रुचि-विचित्रता और भी विलक्षण प्रतीत होगी । कोई कमलदल-आयतलोचना अथवा कुरङ्गशावकनयना को पसन्द करता है तो कोई नर्गिसनय्ना को । चीनवासियो की दृष्टि मे किसी समय नारी के सौन्दर्य का स्टैण्डर्ड था उनके खर्व युगल चरण । चीनी वालिका के पॉव को अत्यन्त छोटा करने के लिए उसके बचपन से ही कृत्रिम उपायो का अवलम्बन किया जाता था जो बहुधा उत्पीडन की सीमा पर पहुँच जाते थे । पूर्वी देशो मे केशो की शोभा घनकृष्ण होने मे है जवकि पाश्चात्य देशो मे लोहित-कुन्तला ही अधिक पसन्द की जाती है । इसी प्रकार हमारे देश मे नाग-जैसी वेणी की प्रशसा है, काकपक्ष या कटे बालो की नही । पूर्वी देशो के राजप्रासादो की असूर्यम्पश्या एव आपादमस्तक अवगुण्ठिता महिला का स्थान आज पाश्चात्य देशो मे हालिवुड की कौपीनवती तारिकाएँ ग्रहण कर रही है । उनकी प्रशस्तियो से समाचार-पत्रो के कालम भरे रहते है । किन्तु रुचि की इस विभिन्नता और विलक्षणता के होते हुए भी नर-नारी के शारीरिक आकर्षण के पीछे जो एक मूल कारण काम

कर रहा है उसमे कभी व्यतिक्रम नही होता। शिक्षा एव सभ्यता-सस्कृति के प्रभाव मे रुचि-विभिन्नता हो सकती है, किन्तु इस विभिन्नता के होते हुए भी प्राणिविद्या के अनुसार जीवमात्र एक दूसरे के प्रति आकर्षित होते है अपनी-अपनी जाति के स्त्री-पुरुष के शारीरिक गठन की विशिष्टता के अनुरूप ।

केवल मनुष्य मे ही नहीं, पशु-पक्षी मे भी यह बात पायी जाती है। यों सब पक्षियो के एक होने पर भी एक जाति के पक्षी की मादा अपनी जाति के नरपक्षी के सौन्दर्य पर ही आकर्षित होगी, किसी अन्य जाति के नरपक्षी पर नही, चाहे वह कितना ही सुन्दर क्यो न हो। अर्थात् यहाँ सौन्दर्य का मानदण्ड होता है जातीय दैहिक विशिष्टता। यह विशिष्टता जिस पुरुष या स्त्री मे जितनी ही परिस्फुट होगी उतना ही वह सुन्दर समझा जायगा या समझी जायगी। इसलिए सौन्दर्य-बोध के मूल मे यह जातीय भावना भी प्रच्छन्न रहती है जिससे किसी जाति के स्त्री-पुरुष अपनी जाति के अन्तर्गत ही जातीय दैहिक गठन के मानदण्ड के अनुसार सौन्दर्य का निरूपण करते है और परस्पर आकर्षित होते है। इसी मानदण्ड के आधार पर किसी जाति मे कमलनयन सुन्दर माना जाता है और किसी मे नर्गिसनयन। यहाँ स्थूल रूप मे सुन्दर और असुन्दर का प्रश्न गौण बन जाता है और मुख्य हो जाता है जातिगत विशिष्टता के अनुसार सौन्दर्य-बोध। किसी सुशिक्षित एव सुसस्कृत हवशी की दृष्टि मे भी हवशी नारी जितनी सुन्दरी प्रतीत होगी उतनी अन्य जाति की नारी नही। वह जातीय विशिष्टता के अनुसार ही उस हवशी रमणी के दैहिक सौन्दर्य का मानदण्ड निश्चित करेगा। किसी अन्य जाति की नारी मे उस जातीय विशिष्टता का अभाव होने से उसका दैहिक सौन्दर्य उसके सौन्दर्य-बोध को जागरित नही करता। इस प्रकार प्राणिशास्त्र के अनुसार मनुष्य का सौन्दर्य-बोध उसकी जातीय दैहिक विशिष्टता के विकास पर ही बहुत-कुछ निर्भर करता है और यह विशिष्टता ही उसके सौन्दर्य-बोध का मानदण्ड होती है।

टेकनीक

ललित कला के जितने विभाग है—साहित्य, सगीत, चित्र-कला, स्थापत्य आदि उन सबकी एक विशिष्ट प्रकाशभगी होती है जिसे अग्रेजी मे टेकनीक कहते है । बिना इस प्रकाशभगी या रचना-कौशल के कला का सौन्दर्य निखर नही सकता । यह ठीक है कि बिना टेकनीक के भी कला की सृष्टि हो सकती है, किन्तु वह कला वैसी ही होगी जैसे मार्किन की मोटी चादर पर कलाबत्तू का काम । काले मखमल पर रेशम का फूल जैसा शोभता है वैसा दूसरे रग के कपडे पर नही ।

साहित्य के सम्बन्ध मे टेकनीक का महत्त्व इसलिए अधिक है कि उसके भावगत सौन्दर्य मे टेकनीक चार चाँद लगा देती है । कविता को ही लीजिए । कविता मे इस बात पर ध्यान रखना होगा कि लघु और गुरु की मात्रा ठीक हो, यतिभग न हो । प्रत्येक पक्ति के अन्तिम तुको मे भले ही मेल न हो । आप चाहे तुकान्त कविता लिखे या अतुकान्त, किन्तु लघु-गुरु मात्रा, छन्द और सुर पर तो ध्यान रखना ही होगा । बिना ऐसा किये वह कविता नही हो सकती । वह असवद्ध गद्य बन जायगी । कविवर निराला ने मुक्त छन्द मे कितनी ही कविताएँ लिखी है । वे भिन्न तुकान्त है । किन्तु उनमे लघु-गुरु मात्राओ का विचार है । छन्द है, सुर है । इन सब पर ध्यान रखकर उन्हे पढना पडता है । यही कारण है कि भिन्न तुकान्त कविताओ मे भी छन्द का माधुर्य होता है । बडे-बडे कवि छन्द के नियमो का बन्धन स्वीकार नही करते । किन्तु,

कविता की टेकनीक को वे नही छोडते । टेकनीक कविता का रूप होती है । उसमे ही उसकी पहचान होती है जिस प्रकार शिखा-सूत्र से ब्राह्मण पुरोहित की पहचान होती है । साहित्य की प्रकाशभगी उसकी टेकनीक मे ही स्पष्ट एव सार्थक होती है ।

नाटक मे टेकनीक से साधारणत हम उसका कथोपकथन समझते है । नाटक का प्राण उसका कथोपकथन ही होता है । कथोपकथन के द्वारा नाटक की कथा-वस्तु, उसके पात्र-पात्रियो के चरित्र तथा उसकी घटनावली का विकास सभव होता है । कथोपकथन नाटक की टेकनीक है ।

छोटी कहानी और उपन्यास की टेकनीक एक नही होती । दोनो की प्रकाशभगी भिन्न-भिन्न होती है । छोटी कहानी की गति मे क्षिप्रता होती है । किन्तु, उपन्यास की कथावस्तु मन्थर गति से यदि आगे बढे तो यह दोष नही समझा जाता । गल्प की कथावस्तु यदि मन्थर गति से आगे बढे तो उसका विकास सभव नही हो सकता । उनकी अपमृत्यु हो जाती है ।

फिल्म की टेकनीक इन सबमे भिन्न होती है । टेकनीक का साधारण अर्थ होता है प्रकाशभगी विकासभगी । फिल्म, नाटक, उपन्यास, गल्प—सबका प्रधान उपादान उसका कथानक या कथावस्तु होता है । यह दो-चार मनुष्यो को लेकर रचित हो सकता है अथवा बीस-पचीस को लेकर । किन्तु, उसकी प्रकाशभगी यदि निपुण होगी तो वह कहानी रूप और रस से युक्त होकर चमक उठेगी—निर्जीव प्राणहीन प्रतीत नही होगी ।

उपन्यास-नाटक का कथानक आरम्भ करने की एक विशेष प्रणाली होती है । पचास साल पहले की किसी घटना को लेकर उपन्यास शुरू किया जा सकता है, और किसी आधुनिक घटना को लेकर भी । घटना चाहे पुरानी हो या नई किन्तु, अतीत के साथ वर्तमान का मेल होना चाहिये । किसी साहित्य या अन्य कलाकृति की प्रशसा हम तभी करते है जब उसमे रचना-कौशल होता है । जिसमे रचना-कौशल नही होता, कला की दृष्टि से उसका कोई महत्त्व नही समझा जाता ।

कहानी या नाटक मे यह देखना होता है कि कोई बात कहाँ तक कहनी चाहिये । एक साथ ही बहुत-सी बाते कह देने से पाठक का मन भाराक्रान्त हो उठता है । लेखक को इस बात का ज्ञान होना चाहिये कि सक्षेप मे बाते किस तरह कही जा सकती है । कथोपकथन के बीच-बीच मे लेखक कही-कही इस प्रकार का इशारा कर देगा जिससे मुख्य पात्र का समस्त रूप विकसित हो उठे और पाठक का मन स्निग्ध रस से सराबोर हो जाय । जबतक लेखक मे सक्षेप मे बहुत-कुछ कह डालने का रचना-कौशल नही होगा तबतक कथा-साहित्य या नाट्य-साहित्य की सृष्टि नही हो सकती । कई बडे-बडे उपन्यासो मे नायक-नायिका के मुँह से इतनी बाते कहलायी जाती है कि उनके जाल मे मूल कथावस्तु पाठको की दृष्टि से ओझल हो जाती है । मूल घटना के साथ कितनी ही घटनाए इस तरह मिला दी जाती है कि मूल कथा का कही पता ही नही चलता । किसी-किसी उपन्यास मे लेखक नायक-नायिका के द्वारा लम्बे-लम्बे व्याख्यान या उपदेश दिलाने की चेष्टा करते है जिससे पाठको का मन ऊब उठता है ।

नाटक, उपन्यास, कहानी और फिल्म सबमे पहले यह देखना होगा कि लेखक को क्या कहना है और किस ढग से कहना है । कथानक के रूप मे जो कुछ कहना है उसकी अभिव्यक्ति प्रधान पात्र-पात्रियो के द्वारा होनी चाहिये । कथानक के प्रधान चरित्रो से पाठक या दर्शक को भली-भाँति परिचित करा देना होगा । उनके जीवन मे जो सब घटनाचक्र परिवर्तन लाते है और घटनाओ के स्रोत मे जो सब स्त्री-पुरुष आते है केवल उतने ही चरित्रो की अवतारणा करनी होगी । ऐसा होने से ही कथानक गल्प, उपन्यास या फिल्म मे प्रस्फुटित हो उठता है और पाठक या दर्शक उसे ठीक-ठीक हृदयङ्गम करने मे समर्थ होते है । कितने ही नाटको और फिल्मो मे भी यह देखा जाता है कि मौके-बे-मौके जैसे-तैसे पात्र आकर गाना गाने लगते है या परिहास करते है । मूल कथा से उनका कोई सम्बन्ध नही होता । इससे नाटक या फिल्म के रस-ग्रहण मे व्याघात

पहुँचता है । हिन्दी फिल्मो मे नाच और गान का रोग बुरी तरह घुसा हुआ है । अनावश्यक प्रसगो पर गान गवाये जाते है जिससे मूलकथा की शृखला विच्छिन्न हो जाती है । कभी-कभी जानबूझकर कथानक की विशृखला पर आवरण डालने के लिए नृत्य और गीत की अवतारणा की जाती है । इसका परिणाम यह होता है कि मूल कथावस्तु का जो सामग्रिक प्रभाव दर्शको के मन पर पडना चाहिये वह नही पडता । दर्शको का मन केवल नाच-गान के चमत्कार मे ही उलझा रह जाता है ।

आधुनिक साहित्य की कुछ प्रवृत्तियाँ

वर्त्तमान युग को विभिन्न आदर्शो, मतवादो एव विचारधाराओ का सघर्ष-युग कहा जाता है । आदर्शो के इस सघर्ष-युग मे मनुष्य हतबुद्धि होकर आत्मविश्वास खो चुका है । सन्देह एव द्विधाग्रस्त-चित्त लेकर वह मानवीय समस्याओ पर विचार करता है और किसी प्रकार के निश्चय पर पहुँचने मे अपने को असमर्थ पाता है । गत प्रथम महायुद्ध से लेकर अबतक मानवीय आदर्शो का——उन उदात्त आदर्शो का, जो मानव-चरित्र को नैतिक एव आध्यात्मिक अनुप्रेरणा प्रदान करके महत् एव उदार बनानेवाले थे——शोचनीय रूप मे अध पतन हुआ है । उन आदर्शों के प्रति मनुष्य की निष्ठा बिलकुल नही रह गयी है । आज वह अपने को जिस आवेष्टन मे पाता है, वह आवेष्टन घृणा, द्वेष, हिसा, अहिसा एव क्रूरता से परिपूर्ण है । सभ्यता के आदिम युग मे मनुष्य-मनुष्य के बीच जैसी क्रूरता, निष्ठुर स्वार्थपरता एव प्रतिहिसा विद्यमान थी, उसी की पुनरावृत्ति मनुष्य आज अपने बीच होते देख रहा है । शताब्दियो की प्रगतिशील सभ्यता ने मनुष्य को आदिम युग की बर्बरता, निष्ठुर स्वार्थपरता एव प्रतिहिसापरायणता से मुक्त किया था, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वह एक बार फिर उस आदिम युग की भयानक अवस्थाओ से अभ्यस्त हो रहा है, और आधुनिक युग की यह बर्बरता वन्य मनुष्यो की बर्बरता एव निष्ठुरता से कही अधिक भयकर है, क्योकि इसके पीछे विज्ञान की प्रबल सहारकारिणी शक्ति है ।

१९ वी शताब्दी ने मनुष्य के विचार और मानव-समाज को व्यक्ति-वाद एव भौतिकवाद के आधार पर गठित किया था । वह उदार गणतन्त्र, वैज्ञानिक उन्नति एव विपुल धनोत्पादन का युग था । उस युग ने सामाजिक आदर्शो के सम्बन्ध मे नयी-नयी धारणाओ को जन्म दिया था । उनमे कुछ धारणाएँ विज्ञान की प्रगति पर आधारित थी । उस युग के अनेक मनीषियो एव ज्ञानी जनो का यह विश्वास था कि विज्ञान की उन्नति की बदौलत मानव जाति की सुख-समृद्धि मे उत्तरोत्तर वृद्धि होती जायगी, मनुष्य के व्यवहारोपयोगी वस्तुओ का उत्पादन इतनी प्रचुरता से होगा कि मनुष्य सब प्रकार के अभावो से मुक्त होकर अवकाश का उपभोग करेगा और सुख-चैन की बशी बजायगा । अन-वरत भौतिक उन्नति एव सुख-समृद्धि के विश्वास ने मनुष्य के मन मे यह धारणा बद्धमूल कर दी थी कि समाज मे किसी प्रकार का भेद-वैषम्य नही रह जायगा और सब लोग परस्पर मिलकर आनन्दपूर्ण जीवन व्यतीत करेगे । इस विश्वास का यह परिणाम था कि लोग जीवन को भोग-सुख मे सलग्न करने लगे और परम निश्चिन्त भाव से जीवन व्यतीत करने लगे । बुद्धिवाद पर लोगो की आस्था इतनी बढ चली थी कि मानवी बुद्धि विश्व के समस्त रहस्यो का उद्घाटन करने मे समर्थ होगी और राष्ट्रो के पारस्परिक सम्बन्ध आपस की समझदारी से परिचालित होगे—इस आशा का लोग अपने मन मे दृढता के साथ पोषण करने लग गये थे । किन्तु गत शताब्दी का यह मोहक काल्पनिक दृश्य-चित्र कुछ ही समय तक कायम रह सका । सन् १९१४ के महासमर ने काल्पनिक सुख-शान्ति की इमारत को क्षण भर मे ही धूलिसात् और सारी आशाओ को चूर्ण-विचूर्ण कर दिया । मनुष्य ने अपने को चतुर्दिक् की अशान्ति, विध्वस एव सुरक्षाहीनता के बीच घिरा हुआ पाया । अपने जान-माल की सुरक्षा तक का उसे विश्वास नही रह गया । अपने जिन नागरिक अधिकारो एव स्वतत्रता पर वह गर्व करता आ रहा था, उनसे भी वह वञ्चित किया जाने लगा । बोलने, लिखने

ओर मिलने-जुलने की स्वतत्रता सकुचित कर दी गयी । जातीय घृणा, विद्वेष एव हिमा की प्रशमा की जाने लगी ओर युद्ध का उत्साहपूर्वक प्रचार किया जाने लगा । जहाँ पहले कुछ बिगडे दिमाग के लोग हिसा की प्रगसा किया करते थे, वहाँ अब सारा राष्ट्र ही हिसा एव युद्ध का गुणगान ओर शान्तिवादियो को आदर्शवादी, खामख्याली व्यक्ति बनाकर उनका उपहास एव तिरस्कार करने लग गया । इस प्रथम महायुद्ध ने समाज-व्यवस्था को छिन्न-भिन्न करके मनुष्य की दृष्टि को सम्पूर्ण धूमिल बना दिया ओर भविष्य के लिए कोई आशा-भरोसा नही रखा । मनुष्य विभ्रान्त एव विमूढ बनकर अन्धकार मे मार्ग टटोलने लगा ।

इस प्रकार की सामाजिक परिस्थिति मे जब मनुष्य का मानसिक क्षितिज अत्यन्त सकुचित एव विभ्रान्त तथा उसकी दृष्टि धूमिल हो रही थी ओर उसकी कल्पना के लिए न कोई उदात्त भावना रह गयी थी ओर न समुन्नत विचार, तब कला एव साहित्य के क्षेत्र मे भी उसकी प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था । मानवता की उदार भावना का स्थान सकीर्ण राष्ट्रीयता ने और कला एव सस्कृति-प्रेम का स्थान जातीय विद्वेष एव सामरिकता ने ग्रहण किया । कला एव साहित्य को सौन्दर्य्य एव मर्यादा प्रदान करनेवाली मानवोचित भावनाएँ अब विलीन होने लगी । मानव-सहारकारी यत्रो के आविष्कार से मनुष्य का मनुष्यत्व खर्व होने लगा । चलचित्रो के प्रदर्शन द्वारा मनुष्य की अधम प्रवृत्तियो एव जघन्य लालसाओ को उत्तेजना मिलने लगी । नवयुवको मे अनवरत रूप से हिसा एव उत्कट राष्ट्रीयता का प्रचार होने लगा । विचार एव भाषण की स्वतन्त्रता नाममात्र के लिए भी नही रह गयी और ऐसा प्रतीत होने लगा कि कला एव सस्कृति के ह्रास का युग आरम्भ हो गया है ।

यूरोप की सस्कृति के पुनरुत्थान-काल मे कला एव सस्कृति द्वारा जिस मानवता का पोषण एव परिवर्धन हुआ था, जो मानवता उस समय

मे लेकर अबतक साहित्य, कला एव दर्शन को सौन्दर्य्य एव महिमा से मण्डित करती आ रही थी, वह विलीन एव मृतप्राय होने लगी। साहित्य मे अब वह सौन्दर्य्य एव शोभा-श्री नही रह गयी। उसमे रूढ, कर्कश स्थूलता एव यथार्थवाद के नाम पर नग्नता को प्रश्रय दिया जाने लगा। जब साहित्य इस प्रकार अपने उच्च आसन से च्युत होकर विवेकशून्य राजनीतिज्ञो के हाथ की कठपुतली बन जाता है, तब स्वभावत मानव-सभ्यता के लिए, जिसका आधार नैतिक एव आध्यात्मिक मूल्य होना है—सकट-काल उपस्थित हो जाता है।

कला एव साहित्य को न तो किसी राजनीतिक दल-विशेष के प्रचार का साधन बनाया जा सकता है और न किसी स्वेच्छाचारी शासक या डिक्टेटर की मर्जी के अनुसार उसकी सृष्टि की जा सकती है। इसी प्रकार एकसमानता का कानून भी उसके ऊपर नही लादा जा सकता। ऐसा करना उसका गला घोट देना है। सस्कृति का प्रकाश सब मनुष्यो मे एक समान नही होता। कुछ चुने हुए विशिष्ट प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति ही कला एव साहित्य की सृष्टि कर सकते है। युग-युग से इस श्रेणी के प्रतिभाशाली मनीषी ही स्रष्टा बनकर सभ्यता को सुष्ठु रूप प्रदान कर समाज को समुज्ज्वल एव राष्ट्र को अमर तथा मानव जाति के इतिहास को गौरवान्वित करते आ रहे है।

जिस प्रकार यत्र के द्वारा एक समान आकार-प्रकार की वस्तुओ का प्रचुर उत्पादन किया जाता है, उस प्रकार का नियम साहित्य एव कला के क्षेत्र मे लागू नही होता। साहित्य की समीक्षा किसी एक निश्चित मानदण्ड के द्वारा नही हो सकती। साहित्यिको एव कलाकारो से यह आशा नही की जा सकती कि वे एक ही प्रकार की या एक ही टाइप की कलात्मक सृष्टि करे। ऐसा होने से मानव-मन पतनोन्मुख होने लगता है और अन्तत वह घोर बर्बरता मे निमज्जित हो जाता है।

प्रकृति एव मानव-जीवन की सपूर्ण व्याख्या, उसके रहस्यो का सपूर्ण उद्घाटन अभी तक सभव नही हो सका है। किन्तु मनुष्य अपनी

सृजनशील प्रतिभा द्वारा ऐसे भावो की कल्पना कर सकता है, जिनसे साहित्य, कला, विज्ञान एव नीति को शक्ति मिले । कवि एव कलाकार अपने मानस मे जिन भावो का पोषण करते है, उन भावो और अपनी बौद्धिक धारणाओ को ही तो अपनी कलात्मक कृतियो मे वे मूर्त रूप प्रदान करते है । उनके अन्तर्जगत् की अभिव्यक्ति ही उन कृतियो मे होती है । हाँ, यह दूसरी बात है कि यह अभिव्यक्ति सुविवेचित रूप मे हो अथवा मनोविश्लेषण विज्ञान के अनुसार कलाकार के अवचेतन मन की अस्पष्ट कामनाओ, मनोभावो या मनोवेगो की लीला के परिणामस्वरूप जैसा कि स्वप्नावस्था मे होता है ।

अवचेतन मन का प्रभाव साहित्य एव कला के ऊपर चाहे जिस रूप मे पडता हो किन्तु इतना अवश्य है कि साहित्य की सृष्टि न तो स्वप्न के दृश्यो की तरह असगत एव असलग्न रूप मे होती है और न किसी आकस्मिक दिव्य ज्योति-दर्शन अथवा अप्रत्याशित आनन्दातिरेक के फलस्वरूप । प्रकृत कला की सृष्टि प्रतिभा एव अनुभूति-प्रवणता द्वारा होती है । उसमे किसी अदृश्य वस्तु का प्रकाश नही होता, बल्कि कलाकार अपने मानस-चक्षुओ से जीवन एव जगत को जिस रूप मे देखता है, उसीका उसके द्वारा प्रक्षेपित प्रोज्वल प्रतिफालन उसकी रचनाओ मे होता है ।

वर्तमान शताब्दी के द्वितीय दशाब्द से साहित्य के क्षेत्र मे कुछ ऐसी विचारधाराएँ काम कर रही है, जिनसे उसकी भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियो को एक विशिष्ट रूप प्राप्त हो रहा है । १९वी शताब्दी के अन्तिम चरण मे साहित्य मे बुद्धिवाद एव हेतुवाद की प्रधानता देखी जाती थी । जिस जीवन का प्रतिफलन उस साहित्य द्वारा होता था, वह जीवन मनुष्य के तर्क एव बुद्धि द्वारा सीमित था । किन्तु जीवन को इस प्रकार तर्क द्वारा थोडे ही सीमित किया जा सकता है ? मानव-जीवन इस प्रकार की प्रत्येक तार्किक प्रक्रिया से अपने को मुक्त कर लेता है, जो यथार्थ के सम्मुखीन होने पर रूढिगत एव मिथ्या प्रमाणित होती है ।

प्रथम महायुद्ध के बाद साहित्य मे जिस नयी धारा को प्रोत्साहन मिला, वह थी, हेतुवाद एव साहित्य की बँधी-बँधायी परिभाषा के विरुद्ध विद्रोह की घोषणा । इस विद्रोह ने अनेक रूप एव आकार-प्रकार धारण किये । कुछ मे तो एक प्रकार की अपरिचित, अज्ञात आकुलता की अभिव्यक्ति होने लगी और कुछ मे एक अभिनव रोमासवाद एव नूतन रहस्यवाद के लक्षण प्रकट होने लगे । साहित्य मे प्रत्यक्ष अनुभूत सत्य एव मनोवेगमूलक आकाक्षाओ की प्रबलता देखी जाने लगी, जिसका अर्थ हुआ शिल्पप्रधान जडवादी जीवन के विरुद्ध प्रतिक्रिया । नैतिक एव आध्यात्मिक आदर्शो को एक बार फिर स्थान मिलने लगा है, जिससे मानवात्मा का जडवाद अथवा बुद्धिवाद द्वारा श्वासावरोध न होकर उन्नयन हो ।

गत शताब्दी के साहित्य मे सौन्दर्यबोध को लेकर जो सब धारणाएँ निश्चित की गयी थी, वे उसी प्रकार चूर्ण-विचूर्ण होने लगी, जिस प्रकार उस शताब्दी की अन्य धारणाएँ । अब साहित्य मे जीवन का इस रूप मे चित्रण होने लगा जिससे उसकी वास्तविकता को हम हृदयगम करे, न कि जीवन के सम्बन्ध मे लेखक का क्या विचार है, उसी की अभिव्यक्ति मे पाठको को जीवन का अनुभव हो । साहित्य मे जीवन के प्रत्यक्ष अनुभूत सत्य को प्रदर्शित किया जाने लगा, जिससे उसके अनुसार जीवन-यापन किया जा सके और उसे चरितार्थ किया जा सके, न कि उस सत्य का चित्रणमात्र हो और वह विचार तक ही सीमित हो । गत शताब्दी के अन्त मे साहित्यिको मे एक यह प्रवृत्ति देखी जाती थी कि वे अपनी परिमार्जित बुद्धिवृत्ति द्वारा कथानक मे जटिलताओ की सृष्टि करके पाठको के कौतूहल को उद्दीपित करने की चेष्टा करते थे अथवा सपूर्ण बौद्धिक कल्पना के आधार पर कथानक की रचना किया करते थे । इन सबके विरुद्ध जो प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई है, उसमे मानव-मन की कुछ गभीर मौलिक अवस्थाओ को उत्तेजन प्रदान किया जाता है ।

वर्त्तमान शताब्दी के प्रारम्भिक पन्द्रह वर्षो की रचनाएं इस समय के पाठको को प्राचीन प्रतीत हो रही है। आधुनिक काल के मनुष्यो के विचार एव भावो मे, यहाँ तक कि उनके अनर्जगत् मे भी इतना आमूल परिवर्तन हो गया है कि उन विचारो एव भावो को, उस अन्तर्जगत को व्यक्त करने के लिए इस समय के साहित्यिको को अभिनव शैली एव अभिनव व्यजना-प्रणाली का सहारा लेना पडता है। यह अभिनव अभिव्यजना-प्रणाली पहले की अपेक्षा अधिक सरल, अधिक परिष्कृत एव अधिक सत्यनिष्ठ होती है। शैली की चारुता एव चित्रा त्मकता, अलकारो का वह रूप-विन्यास और रसो का सूक्ष्म-विधान अब नही रह गया है। नूतन साहित्य की एक साधारण विशेषता है उसकी सजीवता। राजनीतिक हलचलो के साथ-साथ लोगो के मनोभाव भी सबल एव सतेज होने लगे है। अब काल्पनिक कथा-साहित्य की अपेक्षा ऐसे साहित्य की ओर अधिक झुकाव होने लगा है कि जिसमे ऐतिहासिक वास्तविकता का, विगत जीवन की वास्तविक नाटकीय घटनाओ का सजीव चित्रण हो अथवा सामाजिक दृश्य-चित्रो की वर्णनाओ मे युग की दु खजनक समस्याओ की ओर सकेत हो।

उन्नीसवी शताब्दी को पीछे छोडकर मानव जाति और साहित्य ने अब सतुलन एव स्थिरता के युग को अतिक्रम करके ऐसे युग मे प्रवेश किया है जिसे क्रान्तिकारी आन्दोलन का युग कहा जाता है। इस युग की माँग है साहित्य मे एक भिन्न जीवन का चित्रण। यह जीवन सपूर्ण नूतनता लिये हुए हो और साथ ही अपने स्वत. प्रवृत्त मनोभावो एव एक प्रकार के मानसिक समुल्लास की विशिष्टता से युक्त हो।

प्रथम महायुद्ध ने अत्यन्त निर्दयता के साथ राष्ट्रो की आत्माओ को झकझोर कर विप्लव की वह्निशिखा को प्रज्वलित कर दिया। इस प्रचण्ड घटना के फलस्वरूप जो मानसिक विक्षोभ उत्पन्न हुआ, उसने अनेक रूप धारण किये। उसका एक रूप हुआ सामाजिक कर्त्तव्य-बोध की भावना को धारण किये हुए गीतिकाव्य-रचना, दूसरे रूप मे

उसने रहस्यवाद का आश्रय ग्रहण किया जिसमे अपार्थिव जगत् की सृष्टि करके धर्म एव अध्यात्म से आशा एव विश्वास के स्वर्गीय सदेश ग्रहण करने की चेष्टा की गयी । उसका तीसरा रूप हुआ एक नूतन मनोभाव, जो अभी ही इस पृथ्वी पर समानता एव बन्धुत्व के आधार पर सुनिश्चित शान्ति एव सामाजिक न्याय की प्रतिष्ठा करना चाहता है । युद्ध के निदारुण अभिसपात के फलस्वरूप मनुष्य को जो क्लेश सहन करने पडे, उनसे उन मनुष्यो के हृदय मे धार्मिक गीतिकाव्य, आध्यात्मिक रहस्यवाद, विश्वजनीन शान्तिवाद अथवा अविलम्ब एक अभिनव समाज की स्थापना के लिए विप्लवमूलक उद्दीप्त विचार, ये ही सब भिन्न-भिन्न भाव उत्पन्न हुए और इनकी छाप साहित्य पर भी पडने लगी ।

युद्धजनित भीषण सघर्ष के अतिरिक्त यत्र, क्रीडा-कोतूक एव मनोरजन के साधन तथा यातायात के गतिवेग ने भी मानव-मन को कम आलोडित नही किया है । इन सबने मिलकर मनुष्य के मनोवेगो को उत्तेजित और शान्त बौद्धिक विवेचना का श्वासावरोध कर दिया है । चलचित्र, रेडियो तथा अन्य वाष्पीय यत्रो ने मनुष्य की मौलिक मन शक्तियो को छायामूर्तियो एव क्षिप्र भौतिक चित्राकनो द्वारा उभाड दिया है । मानव-मन के ये सब यात्रिक सस्कार उसकी साहित्यिक एव कलात्मक कृतियो मे प्रतिफलित हो रहे है ।

यह भीषण अशान्ति एव तुमुल आन्दोलन का युग है । जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे हम इस अशान्ति का अनुभव कर रहे है । इतिहास इस बात का साक्षी है कि क्रान्तिपूर्ण युग मे मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियो, उसके मनोविकारो एव मनोवेगो की प्रधानता देखी जाती है और इन शक्तियो द्वारा ही वह बहुत-कुछ परिचालित होता है । इसके बाद बुद्धिवाद का शान्तिपूर्ण युग आता है जब क्रान्ति-काल युग के प्रचण्ड सघर्षो से उत्पन्न शक्तियो को जीवन के नये रूपो के साथ सामजस्य-विधान करके उन्हे स्वीकार कर लिया जाता है ।

इतिहास के गर्भ से जिस नूतन जगत् का जन्म हो रहा है, उसका रूप-रग भिन्न होगा। वह अच्छा होगा या बुरा, यह नही कहा जा सकता, किन्तु इतना अवश्य है कि विश्व के उस नूतन आकार-प्रकार मे कुछ सत्य एव शुभ सन्निहित होगे। और इस शुभ एव सत्य को लेकर इस नूतन जगत् के साहित्यिक एव कलाकार एक नूतन मानव सस्कृति की सृष्टि करेगे। इस सस्कृति के प्रकाश मे हम साहित्य को पल्लवित एव पुष्पित होते देखेगे। यह साहित्य केवल बौद्धिक ही नही, 'आध्यात्मिक' भी होगा। इसमे किसी जाति-विशेष के आदर्शगत एव सौन्दर्य्यबोध-मूलक भावो का समावेश तो होगा ही, इसके साथ ही उसमे वे नैतिक तत्व भी होगे, जो व्यक्ति को व्यक्तिगत भावना से ऊपर उठाकर सामूहिक चैतन्य की अवस्था मे जीवन के स्वरूपो को एक उच्चतर स्तर पर ले जाते है। जिस प्रकार किसी राष्ट्र का धन-वैभव उसकी सभ्यता का यथार्थ परिचायक नही है, उसी प्रकार सौन्दर्य-बोधजनित सामञ्जस्य होने से ही कला की पूर्ण अभिव्यक्ति नही होती। उसमे समाज के आध्यात्मिक एव नैतिक अस्तित्व का भी समावेश होना चाहिए। साहित्य की राष्ट्रीयता एक-एक राष्ट्र की, उसके सौन्दर्य्य-दर्शन की विशेष दृष्टिभगी मे तो है ही, साथ ही उसके उस नैतिक तत्व मे भी है जिसके द्वारा प्रत्येक जाति की आत्मा विश्वसस्कृति के रूप मे अपनी पैतृक सपत्ति को समृद्ध बनाती है।

आदर्शसघात, स्वार्थ-सघर्ष एव तुमुल विक्षोभ से होकर जब आज की मानव जाति शान्त एव सन्तुलित अवस्था मे प्राप्त होगी, जब नैतिक एव आध्यात्मिक गुणो के विकास से मनुष्य मे सामूहिक चेतना का उदय होगा, जब मनुष्य नैतिक आदर्शों का यथार्थ मूल्याकन करना सीखेगा, उस समय साहित्य एव कला युग-धर्म एव युगवाणी का वाहन बन कर एक अभिनव रूप ग्रहण करेगी। अपने इस नूतन रूप द्वारा वह साहित्य राष्ट्रो के, महिमामण्डित, मनुष्यो को आनन्दरस से परितृप्त और अखिल

विश्व के मनुष्यो को सौन्दर्य्य के एक ही प्रकार के प्रभाव द्वारा आबद्ध करेगा । यह साहित्य ही मनुष्य को मनुष्योचित भावनाओ से अनु-प्राणित करके उसके जीवन को सत्य एव शिव, शक्ति एव सौन्दर्य्य, ज्ञान एव प्रेम द्वारा समलकृत एव सुसस्कृत कर देगा, जिससे वह जगत एव जीवन के सम्बन्ध मे सन्तुलित दृष्टिकोण से विचार कर सके और आशा एव विश्वास के साथ अपने भविष्य के ज्योतिर्मय स्वरूप की कल्पना कर सके ।

———

लोक-साहित्य

समाज मे श्रेणीभेद के अनुसार अनेक श्रेणी के साहित्य का अस्तित्व पाया जाता है। एक श्रेणी का वह साहित्य होता है जिसके स्रष्टा समाज के उच्च सुशिक्षित एव सुसस्कृत वर्ग के साहित्यिक एव कलाकार होते है और इस वर्ग की पृष्ठपोषकता मे ही यह साहित्य विकसित होता है। समाज के साधारण पढे-लिखे मनुष्य इस साहित्य को हृदयगम करने और उसका रसास्वादन करने मे असमर्थ होते है। इस साहित्य मे प्राय उच्च वर्ग के शिक्षित जनो की मानसिकता, मनोभाव, रुचि, शिक्षा, ज्ञान-विज्ञान एव विचारधारा की अभिव्यक्ति हुआ करती है। उनके जीवन का प्रतिफलन इस साहित्य द्वारा होता है। इस साहित्य को 'शिष्ट साहित्य' की सज्ञा दी जाती है और इसकी कसौटी पर ही किसी जाति की साहित्यिक प्रतिभा का विचार किया जाता है। जब हम यह कहते है कि किसी जाति का साहित्य उसके जातीय जीवन का दर्पण होता है तब हमारा अभिप्राय उस जाति के 'शिष्ट साहित्य' से ही होता है। इस कोटि का साहित्य ही जाति की सृजिनी शक्ति और उसकी साहित्यिक कीर्त्ति का परिचायक होता है। दूसरी ओर एक श्रेणी का वह साहित्य होता है जिसके स्रष्टा प्राय अज्ञात एव अपरिचित बने रहते है, किन्तु उसकी परम्परा कायम रहती है। समाज के साधारण मनुष्यो द्वारा इसकी सृष्टि होती है और साधारण मनुष्य ही इस साहित्य के पृष्ठपोषक एव समर्थक होते है। समाज के साधारण शिक्षित एव अशिक्षितजनो की पृष्ठपोषकता मे ही यह साहित्य अब तक जीवित रहा है। यह साहित्य 'लोक-साहित्य' के नाम से परिचित है। भारत की प्रत्येक जनपदीय भाषा मे लोक-साहित्य का अस्तित्व प्रचुर मात्रा मे पाया जाता है। इतना ही नही, बल्कि जिस जनपदीय

भाषा मे 'शिष्ट साहित्य' का अभाव है वह भी लोक-साहित्य की दृष्टि से समृद्ध है। लोक-साहित्य की यह परपरा कब से चली आ रही है कोई नही बता सकता। लोक-साहित्य मे विशेषत गीतो, कथा-कहानियो और लोकोक्तियो का ही समावेश होता है। इनके रचयिता सदा के लिए अज्ञात एव अख्यात रह जाते है। किन्तु उनके द्वारा रचित साहित्य की लोक-प्रियता कम नही होने पाती। यह ठीक है कि जहाँ जाति की सास्कृतिक सम्पद् की चर्चा होती है वहाँ शिष्ट साहित्य की तुलना मे लोक-साहित्य को बहुत निम्न स्थान दिया जाता है और सम्पूर्ण रूप मे उसे स्वीकृति नही मिलती। उच्च श्रेणी के सुशिक्षित जन लोक-साहित्य की ओर विशेष रूप मे आकृष्ट नही होते और विद्यालयो मे अध्यापको एव छात्रो के लिए यह पठन-पाठन एव मनन का विषय नही होता। साहित्यिक समालोचको की दृष्टि मे भी इसका कोई मूल्य साहित्य शास्त्र की दृष्टिसे होता है ऐसा प्रतीत नही होता। अभी तक किसी साहित्यशास्त्र या समालोचना-ग्रन्थ मे लोक-साहित्य की साङ्गोपाङ्ग समीक्षा नही हुई है। इसके फलस्वरूप समाज मे जिस प्रकार उच्चवर्ग के सास्कृतिक जीवन के साथ निम्नवर्ग के सास्कृतिक जीवन का कोई सम्पर्क नही पाया जाता उसी प्रकार 'शिष्ट साहित्य' और 'लोक-साहित्य' के बीच भी व्यवधान की एक विस्तृत रेखा खिची रहती है।

साहित्य-शास्त्र के पण्डितो और कलासमीक्षको की दृष्टि मे लोक-साहित्य ग्रामीणता, स्थूलता अथवा अश्लीलता के दोष से चाहे कितना ही दूषित और इस कारण हेय एव अवज्ञेय सिद्ध हो किन्तु एक बात मे वह शिष्ट साहित्य से बहुत आगे बढा हुआ है, और वह है उसकी लोकप्रियता। आप कहेगे कि लोकप्रियता ही किसी कलाकार की श्रेष्ठता का प्रमाण नही हो सकती। अधिकाश श्रेष्ठ कलाकार अपनी मृत्यु के बाद मान्य एव जनप्रिय हुए है। किन्तु लोकप्रियता ऐसी वस्तु नही है कि

उसकी सर्वथा उपेक्षा कर दी जाय । सभी कलाकार एवं साहित्यिक जन-समाज में समादर प्राप्त करने की कामना करते हैं । देश-देश में, काल-काल में जनसाधारण की रुचि में परिवर्तन होते रहते हैं । साहित्यकार इस लोक-रुचि की ओर ध्यान रख कर साहित्यरचना करते हैं, कारण बिना ऐसा किये वे लोकप्रिय नहीं हो सकते । जो ऐसा नहीं करता वह आर्नाल्ड बेनेट की भाषा में या तो देवता है अथवा अहम्मन्य नासमझ, मूर्ख ।

"The truth is that an artist who demands appreciation from the public on his own terms and on none but his own terms, is rather a god or a conceited and impractical fool And he is somewhat more likely to be the latter than the former. ...The sagacious artist, while respecting himself, will respect the idiosyncracies of the public."

बुद्धिमान कलाकार वह है जो आत्मसम्मान की रक्षा करते हुए जन-रुचि पर ध्यान रखकर साहित्य-रचना करता है । आत्ममर्यादा का परित्याग किये बिना भी इस प्रकार के जन-प्रिय साहित्य की रचना की जा सकती है । जनता या साधारणजन अवज्ञा की वस्तु नहीं । कोई भी साहित्यिक इनकी सर्वथा उपेक्षा नहीं कर सकता । श्रेष्ठ कलाकारों ने भी नहीं की है ।

इसका यह अर्थ नहीं कि शिष्ट साहित्य और लोक-साहित्य में कोई भेद नहीं होता और दोनों की साहित्यिक मर्यादा एक समान है । कहने का अभिप्राय केवल इतना ही है कि बड़े-बड़े साहित्यकार भी युगधर्म के अनुकूल लोकरुचि पर ध्यान रखकर साहित्यरचना करने में अपनी हेठी नहीं समझते । इसलिए साधारणजनों में विशेष रूपसे लोकप्रिय होने के कारण लोकसाहित्य गर्हित नहीं समझा जा सकता ।

शिष्ट साहित्य और लोकसाहित्य के बीच यह व्यवधान जो बहुत दिनो से चला आ रहा है इसका मूल कारण हमारी सामाजिक व्यवस्था है। जिस समाज मे हम वास कर रहे है वह श्रेणीविभक्त समाज है। सभ्यता की प्रगति के साथ-साथ समाज मे यह श्रेणीभेद और भी स्पष्ट होता गया है। लोकसाहित्य का सम्बन्ध समाज की आदिम व्यवस्था मे है, वह व्यवस्था जिसमे सभ्यता ग्रामकेन्द्रिक और उसका मूल आर्थिक आधार कृषि था। इस समय से ही लोकसाहित्य की परपरा चली आ रही है। कालान्तर मे जब कृषि सभ्यता का स्थान महाजनी सभ्यता ने ग्रहण किया और बडे-बडे उद्योगप्रधान नगरो की प्रधानता होने लगी तब सस्कृति का स्रोत भी ग्रामो से विच्छिन्न होकर नगरो मे प्रवाहित होने लगा। एक नूतन नागरिक सभ्यता एव सस्कृति की सृष्टि हुई और समृद्ध नागरिक जीवन का आश्रय पाकर यह विकसित होने लगी। ग्रामीण जीवन और नागरिक जीवन के बीच क्रमश व्यवधान की खाई चौडी होती गयी। शिक्षा, सस्कृति, ज्ञान, विज्ञान सब कुछ का केन्द्र नगर बन गया और नूतन शिक्षा, सस्कृति मे दीक्षित नगर-वासियो के आचार-विचार, रीति-नीति और रुचि मे ग्राम वासियो से एक स्पष्ट भिन्नता देखी जाने लगी।

ग्रामो की धनसपद् नाना मार्गो से छन-छन कर नगरो मे सिमटने लगी। ग्रामीण जीवन का प्राणरस सूखने लगा और उस की सस्कृति क्रमश विलुप्त होने लगी। दूसरी ओर नगरो की शोभाश्री और ऐश्वर्य का आडबर क्रमश बढने लगा। जिसे हम शिष्ट साहित्य कहते है वह साहित्य इस नागरिक समाज और उसके सास्कृतिक जीवन के विचित्र, विविध रूपो और उस समाज की भाव-धाराओ को लेकर ही विकसित हो रहा है। उसमे नगरो के कर्म-मुखर जीवन, उसके विलास-वैभव और बहुमुखी प्रचेष्टाओ की झाँकी हमे देखने को मिलती है। ग्रामीण सभ्यता और सस्कृति आज काल के आवर्त्त मे पड कर लुप्तप्राय हो रही है।

और उसके साथ ही उस सस्कृति की सब से बडी निधि लोकसाहित्य भी आज क्षयिष्णु हो रहा है। उस का प्राण-प्रवाह अवरुद्ध होकर अवसन्न हो चुका है। इसलिए प्राचीन सस्कृति के निदर्शन के रूप मे आज उस साहित्य को अवहेलना एव अवज्ञा की आवर्जना मे से ढूँढ निकाल कर उसे सुरक्षित रखने का प्रश्न ही हमारे सामने है। और यह सतोष की बात है कि इस दिशा मे हमारे साहित्यकारो और साहित्यिक सस्थाओ का ध्यान इधर आकृष्ट हुआ है और वे लोकसाहित्य के उद्धार एव सरक्षण मे प्रयत्नशील है।

हमारे लोक साहित्य का क्षेत्र बहुत व्यापक है। इसमे जनता की सजीव चेतना, उसके उत्साह और प्राणो की उमङ्ग का परिचय हमे मिलता है। लोकसाहित्य की भाषा सहज और अनगढ होती है—सब प्रकार के अलकरण से विमुक्त। यह भाषा किसान, मछुआ, चरवाहा, पनिहारिन, चक्की पीसनेवाली और चरखा कातनेवालियो की भाषा है। इस भाषा को उन्होने परपरा के रूप मे प्राप्त किया है। अपनी इस भाषा मे गान गाकर वे अपने श्रमभार को हल्का करने की चेष्टा करती है।

लोक साहित्य की विभिन्न शाखाएँ है—गीतिशाखा, कथाशाखा और नाटकीय शाखा। इनके सिवा लोकोक्तियाँ, लोकवार्त्ता, बुझौवल, टोने-टोटके मत्रोच्चार, डाक और घाघ के वचन आदि भी लोक-साहित्य के अन्तर्गत ही माने जायगे। उपर्युक्त तीनो शाखाओ मे गीति शाखाकी प्रधानता है। इस शाखा के अन्तर्गत सामाजिक एव धार्मिक अनुष्ठानो के अवसर पर स्त्रियो द्वारा गाये जानेवाले गीत—बच्चे का जन्म, अन्नप्राशन, मुण्डन सस्कार, यज्ञोपवीत, विवाह तथा विभिन्न व्रतो के गीत, कनफटे जोगियो और गॉवगॉव घूम कर सारगी पर गीत गानेवाले जोगियो के गीत, कीर्त्तन गान, निम्न जातियो के देव-देवियो के गीत, अल्हा-ऊदल के गीत, लौकिक प्रेमगीत आदि सम्मिलित है। कहावतो, पहेलियो और टोने-टोटको को यद्यपि साहित्य की सज्ञा नही दी जा

सकती किन्तु साहित्य के क्षेत्र में मनुष्य के प्राथमिक प्रयास के रूप में इनका मूल्य अवश्य है ।

हमारे हिन्दी साहित्य पर लोकसाहित्य का काफी प्रभाव पडा है । वज्रयानी सिद्ध कवियों की रचनाओ से आरम्भ करके रीतिकाल के पूर्व तक के कवियो पर न्यूनाधिक रूप मे लोकसाहित्य का प्रभाव अवश्य पडा है । कवि विद्यापति ने अपने गीतो की रचना लोक-साहित्य की भाषा मे की और "देसिल वयना सब जन मिट्ठा" कह कर उसे मर्यादा प्रदान की । अमीर खुसरो पर लोक साहित्य का सबसे अधिक प्रभाव पडा है । इसी प्रभाव का परिणाम उनकी पहेलियाँ और मुक-रनियाँ है । कबीर ने अपनी रचनाओ मे सधुक्कडी भाषा का प्रयोग किया है । गोस्वामी तुलसीदास जीने रामललानहछू की रचना सोहर छद मे की जिसका प्रचार इस समय भी नारीसमाज मे है । रीतिकाल के कवियो का सपर्क जनजीवन से विच्छिन्न हो गया जिससे लोकसाहित्य का प्रभाव उनकी रचनाओ पर नही पडा ।

लोक-साहित्य मुख्यत गीतिसाहित्य है । उसमे गीत का तत्त्व अत्यन्त मुखर है । सगीत ही उसका प्राण है । उसमे कथा नही, सुर है । आदिम समाज का मनुष्य अपने कर्मरत जीवन मे प्रत्येक कर्म के साथ ताल रख कर जो सुरझकृत करता था, लोकसाहित्य मे उस सगीत और उस सुर की ही अभिव्यक्ति हुई है । कर्म के छन्द-छन्द मे ध्वनि का स्पन्दन । केवल स्पन्दन, कथा नही । कथा का आविर्भाव उस समय हुआ जब मनुष्य ने सभ्यता के मार्ग पर कई पग आगे बढाये और उसके कण्ठ मे वाणी ध्वनित हुई । आरम्भ मे हावभाव. फिर नृत्य । इस के बाद ध्वनि और शब्द । और परवर्ती युग मे कथा । सभ्यता के आदिम युग मे मनुष्य ने इस रूप मे ही अपने मनोभाव व्यक्त किये थे । सगीत का आश्रय-ग्रहण करके अपने मन की विभिन्न अवस्थाओ का प्रकटीकरण किया था । अपनी अनुभूतियो को दूसरो तक पहुचाया था । इस रूप मे ही उस

युग मे एक की विचारधारा दूसरे के लिए बोधगम्य होती थी। मानव सभ्यता के उस प्रथम प्रभात का जीवन लोक-साहित्य की पृष्ठिभूमि है। उस समय के समाज के कर्म मे जो छन्द, ताल और सुर-स्पन्दन था वही लोक-साहित्य के प्रत्येक स्तरमे छिपा हुआ है। यही कारण है कि कथा की अपेक्षा सुर ही उसमे मुख्य है। लोकसाहित्यकी प्रत्येक शाखा मे गीति प्रवणता ही मुख्य है। लोकसाहित्य की दूसरी विशेषता है उसकी पद्य-मयता। गद्य का आविर्भाव मानव समाज मे बहुत बाद मे चल कर हुआ। इससे पूर्व समस्त साहित्य पद्य मे ही रचित होता था। गद्य के आविर्भाव के बहुत पहले से पद्य साहित्य की सृष्टि होने लग गयी थी। इसलिए स्वभावत लोकसाहित्य प्रधानत पद्यमूलक है।

लोक साहित्य का भविष्य भावी काल की समाज-व्यवस्था पर निर्भर करता है। भावीकाल की समाज-व्यवस्था वर्गविहीन समाज-व्यवस्था होगी जिसमे आज की तरह कुलीनता और धन-वैभव के आधार पर श्रेणीविभक्त समाज का अस्तित्व नही रह जायगा। उच्च शिक्षित वर्ग की सस्कृति ओर अशिक्षित एव अर्धशिक्षित वर्ग की सस्कृति मे इस समय जो व्यवधान है वह व्यवधान मिट जायगा और जनजीवन का सास्कृतिक धरातल समुन्नत होगा। शिक्षा-प्रचार और ज्ञान के व्यापक प्रसार के फलस्वरूप सर्वसाधारण की रुचि परिमार्जित होगी। इसके साथ-साथ उनके द्वारा रचित साहित्य की प्रकाश-भगी भी सुष्ठु एव समृद्ध होगी। लोक-जीवनसे प्राणरस ग्रहण करके तथा उन्नत टेकनीक से युक्त होकर भावी काल का साहित्य अधिक बलिष्ठ और सजीव होगा।

श्रव्य काव्य

हिन्दी साहित्य का जो काल-विभाजन किया गया है उसमे आदिकाल को वीर-गाथाकाल या चारणयुग कहा जाता है। चारण युग इसलिए कि उस समय चारण और भाट गाँवो मे घूम-घूम कर लोगो को कविताएँ सुनाया करते थे। उनकी वीररसपूर्ण कविताओ को सुन कर अपढ, अशिक्षित जनता मे भी उत्साह और उमग उद्दीप्त हो उठती थी। दल के दल युवक देशप्रेम की उन्मादना मे उन्मत्त होकर रणभूमि मे मरण-त्योहार मनाने के लिए चल पडते थे। वीररस के लिए छप्पय, कवित्त और सवैया छन्द अधिक उपयुक्त समझे जाते थे। इसलिए चारण और भाट एक खास तर्ज के साथ इन छन्दो को पढ कर सुनाया करते थे। आज भी यज्ञोपवीत, विवाह आदि शुभ अनुष्ठानो के अवसर पर भाट कवित्त और सवैया सुनाकर श्रोताओ को रसमग्न कर देते है। इन पक्तियो के लेखक ने इस प्रकार के सैकडो छन्द भाटो के मुँह से सुने है। भाट जब कवित्त सुनाने लगते थे तो कवित्त और सवैया का ताँता लग जाता था। अविरामगति से एक के बाद दूसरा छन्द सुनाते चले जाते थे और वह भी प्रसङ्गानुकूल। केवल भाट ही नही, कत्थक भी, जो नृत्य-विद्या मे कुशल होते थे, सूर, तुलसी से लेकर रीतिकाल के अन्तिम श्रेष्ठ कवि पद्माकर तक के न मालूम कितने पद, गीत, कवित्त और सवैया ताल, स्वर और लययुक्त सुना कर साधारणजनो मे भी कविता और सगीत के प्रति सुरुचि उत्पन्न कर देते थे। इस प्रकार काव्य और सगीत के शास्त्रीय तत्त्वो को न समझ-नेवाले भी उसके आनन्द से वचित नही रह जाते थे। श्रव्यकाव्य को दृश्य काव्य का रूप देने वाले इन चारणो और भाटो के वशज आज अपनी परपरागत वृत्ति को छोड कर अन्य कामो मे लग गये है। इस समय जो

भाट पाये जाते भी है वे अपने पूर्वजो की तरह कवित्त और सवैये, चाहे जिस प्रसग के अनुकूल कठस्थ नही सुना सकते। कत्थको का नृत्यसगीत तो आज लुप्तप्राय ही हो चला है। पाठ्य या श्रव्य और दृश्य काव्य के बीच सयोगसूत्र स्थापित करनेवाले तथा कवि के काव्य और सहृदय श्रोताओ के मध्य दूत का काम करनेवाले चारण, भाट और कत्थको को अब समाज द्वारा वह प्रश्रय नही मिलता जो पहले मिलता था।

केवल हमारे देश मे ही नही ससार के सभी देशो मे काव्य-साहित्य के इतिहास के साथ इन चारण और बदी जनो का इतिहास विजडित है। जब से काव्य का आरम्भ हुआ तभी से काव्य को पढ कर या सस्वर गाकर सुनानेवालो का भी आविर्भाव पाया जाता है। ग्रीस, इटली, फ्रान्स, इगलैण्ड इन सब देशो मे ऐसे लोग थे जो सस्वर कविता-पाठ करके जनता का मनोविनोद किया करते थे। इतना ही नही, बल्कि हिन्दी-काव्य-साहित्य के इतिहास की आलोचना करने से यह भी ज्ञात होता है कि बहुत-से कवि स्वय भी अपनी कविताएँ पढ कर सुनाया करते थे। इस कला मे वे कुशल होते थे। अपनी कविताओ को सस्वर और हाव-भाव के साथ पढनेवाले कवि जनता मे लोकप्रियता प्राप्त करते थे। हिन्दी के रीतिकालीन कवियो मे इस प्रकार के कितने ही कवि थे जो राजदरबारो मे अपनी कविताएँ पढ कर सुनाया करते थे। गग कवि के सम्बन्ध मे यह प्रवाद प्रसिद्ध है कि उन्हे एक कवित्त पढ कर सुनाने के लिए ३६ लाख रुपये पुरष्कार स्वरूप मिले थे।

इस समय जिस प्रकार किसी साहित्यकार या कवि को प्रोत्साहन प्रदान करके आगे बढाने के लिए प्रेस और पार्टी की पोषकता आवश्यक होती है उसी प्रकार उन दिनो भी किसी राजा या सामन्त की पोषकता प्राप्त किये बिना कोई कवि प्रसिद्धि नही प्राप्त कर सकता था। यह ठीक है कि तुलसी और सूर जैसे कवियो को किसी राजदरबार की पोषकता नही मिली थी किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि इन कवियो

की ख्याति अपने समय मे कवि के रूप मे उतनी नही हुई थी जितनी सत और महात्मा के रूप मे । कवि-कर्म इनके लिए साध्य न होकर साधन मात्र था । कविता के माध्यम से ये अपने इष्टदेव का गुणगान एव महिमा-कीर्तन करके आत्मतुष्टि लाभ करते थे । किसी राजा या सामन्त के दरबार मे प्रश्रय पाने के लिए कवि को अपनी कविता राज-दरबार मे पढ कर उपस्थित जनो को प्रभावित करना पडता था । श्रोता-गण उनकी रचनाओ को सुन कर दाद देते थे और तब राजा और रईस उन्हे अपने यहाँ आश्रय देते थे अथवा पुरस्कृत करते थे । इस समय जैसा उस समय नीरव कवि नही होते थे । कारण इस समय का कोई भी कवि पत्र-पत्रिकाओ अथवा पुस्तको के द्वारा अपनी रचनाओ को सहृदय पाठको तक पहुँचा सकता है । किन्तु उस समय इन साधनो का अभाव होने से एकमात्र उपाय यही था कि कवि अपनी वाणी को मुखरित करे । सभा के बीच राजा, सामन्त और दरबारियो को तथा मन्दिरो मे भक्त-श्रोताओ को अपनी रचनाएँ सुना कर आनन्द प्रदान किया जाय । उस समय के कवियो को केवल शब्दशिल्पी ही नही स्वरशिल्पी भी बनना पडता था । अक्षरो मे जिस काव्य-रूप को वे प्रस्फुटित करते थे उसे कठ के सुर मे तरगित करना पडता था । सुरशिल्पी भले हो न हो किन्तु स्वरशिल्पी होना तो उनके लिए आवश्यक था । चारण और वदीजन, जो कवियो की रचनाएँ पढ कर सुनाया करते थे अथवा जो लोग रामायण, महाभारत और पुराणो की कथाओ को गाकर श्रोताओ मे विस्मययुक्त भक्ति की भावना भरा करते थे, उनका आविर्भाव तत्कालीन समाज के प्रयोजनानुसार ही हुआ था । राम, लक्ष्मण, भरत, हनुमान, रावण, विभीषण, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, सावित्री-सत्यवान, नल-दमयन्ती इन सबकी कहानियो को जब कथा बाँचनेवाले गाकर सुनाते थे तो उनका रूप श्रोताओ के मानस-चक्षु के सामने जीवन्त रूप मे प्रतिभासित हो उठता था । कथा कहने वाले को एक साथ ही स्रष्टा एव सृष्टि का

अभिनय करके दिखाना पडता था । उस युग के साधारणजन चारण, भाट, कत्थक और गायक कत्थकडो के मुँह से छन्द, गीत और छन्दोबद्ध कथाएँ सुनकर ही काव्यरस का आस्वादन किया करते थे । इससे केवल उनके रसपिपासु मन को परितोष ही नही मिलता था बल्कि उनका ज्ञानवर्धन भी होता था । इस रूप मे ही इस देश के लाखो स्त्री-पुरुष अशिक्षित होने पर भी आदर्श चरित्रो एव धर्म तथा सदाचार के मौलिक तत्त्वो से परिचित हो जाते थे ।

मध्ययुग मे यदि चारण, भाट, कत्थक और कत्थकड कवियो की रचनाओ का गा-गाकर प्रचार नही करते तो काव्य-साहित्य राज-प्रासाद की चहारदीवारियो के अदर ही मृतवत् पडा रहता और जन-साधारण तक उसकी पहुँच नही हो पाती । काव्य को अचलायतन के घेरे से उन्मुक्त करने का श्रेय इन चारण और कत्थको को ही है । मध्ययुग मे इन्होने इस ऐतिहासिक दायित्व को ग्रहण करके समाज के सास्कृतिक स्तर को ऊँचा रखा था । जिस आदिम युग मे प्रकृति के साथ मनुष्य का सग्राम आरम्भ हुआ था उस सग्राम के साथ ही साथ मनुष्य मे नृत्य एव गीत की भावना जाग्रत हो उठी थी । नृत्य एव गीत उसकी सस्कृति के एक अविच्छेद्य अग बन कर जीवित रहे है । प्रकृति एव मनुष्य के बीच जो कठोर सग्राम चलता रहा उसमे काव्य उसके विजयाभियान का एक गौरवपूर्ण अध्याय बन गया । मनुष्य एक जीव मात्र नही है यह काव्य-साहित्य हमे बार-बार स्मरण करा देता है । साहित्य ने ही सर्वप्रथम कल्पना के स्वर्ग से देवी-देवता को लाकर इस पृथ्वी पर मनुष्य के बीच उपस्थित किया । साहित्य ने ही इस बात की घोषणा की कि देवता का आसन मानव-समाज के बीच होगा । कल्पना के देवता वास्तविक देवता बनकर समाज का मगल साधन करेगे । हमारा काव्य-साहित्य केवल विलास और अवकाश का समय व्यतीत करने का साधन किसी दिन भी

रूप मे बराबर बना रहा । आनन्द का वितरण करने के साथ-साथ वह जनता के सामने जीवन के महत् आदर्श उपस्थित करता था और नैतिक मूल्यो के प्रति उसके मन मे श्रद्धा उत्पन्न करता था ।

साहित्य के इस प्रयोजन की पूर्त्ति केवल कवि ही नही बल्कि चारण, भाट और कत्थकड भी किया करते थे । इन चारणो और कत्थकडो का ही यह काम था कि वे जनता को नैतिकता एव उच्चादर्शो के प्रति आकृष्ट करते और मानवता के स्वरूप तथा महत्तर जीवन के लक्ष्य के प्रति उसे परिचित करा देते थे । काव्य के माध्यम द्वारा यह कार्य जितना सहज रूप मे सपन्न हो सकता था उतना धर्मशास्त्रो के सहस्र-सहस्र वाक्यो द्वारा नही । विहारी के एक दोहे ने विलासी राजा जयसिह के अन्दर कर्त्तव्यबुद्धि जागरित करने मे जितना काम किया उतना क्या किसी उपदेशक के उपदेश कर सकते थे ?

तो फिर चारण, भाट और कत्थकडो की वृत्ति आज लुप्तप्राय क्यो हो रही है ? इस प्रश्न का उत्तर यही हो सकता है कि गीतो और कविताओ के प्रचार के लिए आज उनकी अपेक्षा अधिक योग्यतर साधन आविष्कृत हो चुके हें । आज उनकी आवश्यकता उतनी नही रह गई है जितनी उस युग मे थी जब कि छापाखाना, ग्रामोफोन, सिनेमा और रेडियो का प्रचार नही हुआ था । जो प्रयोजन की प्रेरणा थी उसका स्रोत ही जब शुष्क हो गया है तो फिर उसका प्रकाश का पथ लुप्तप्राय क्यो नही होगा ? आधुनिक युग मे चारण और कत्थकडो का प्रयोजन इसलिए नही रहा कि अपने साहित्य-प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए लोग नये-नये माध्यमो का उपयोग करने लगे है ।

किन्तु इस प्रसग मे एक बात उल्लेखनीय है । चारण और भाट, कत्थक और कत्थकड आज के युग मे भले ही अनुपयुक्त एव अनावश्यक प्रतीत हो उनका सम्पूर्ण विलोप नही हो सकता । भौतिक विज्ञान का यह नियम है कि किसी वस्तु का सम्पूर्ण विनाश नही होता । पुरातन

का प्रत्यावर्त्तन नव-नव रूप मे हुआ करता है। इतिहास जीर्ण-पुरातन के ध्वम-स्तूप पर नूतन की रचना करता है जो पुरातन का ही परिवर्तित रूप होता है। इस नियम के अनुसार ही चारण की प्रथा का साहित्य सम्मेलनो और सभा-समितियो मे कवि-सम्मेलन और कवि-गोष्ठियो के रूप मे नव जन्म हो रहा है। कवियो की रचनाओ को पुस्तको मे पढने की अपेक्षा लोग उनके मुँह से सुनकर अधिक आनन्द प्राप्त करते है। इम रूप मे जनता के साथ कवियो का सम्पर्क और भी घनिष्ठतर होता है और कवि तथा सहृदय श्रोताओ के बीच हृदय का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

साहित्य में सामायिकता

पिछले दस वर्षो के अन्दर प्रचुर परिमाण मे हिन्दी-साहित्य की विभिन्न शाखाओं मे पुस्तके प्रकाशित हुई है और इस समय भी हो रही है। इन सब पुस्तकों मे अधिकाश उपन्यास, कविता और कहानी-सग्रह है। प्राय सभी उपन्यास और कहानी-सग्रह की विषयवस्तु देश की कोई-न-कोई साम्प्रतिक घटना या समस्या हुआ करती है। युगधर्म को स्वीकार करके साहित्य अधिक-से-अधिक वास्तववादी बनता जा रहा है, यह सर्वथा स्वाभाविक है। हिन्दी के लेखक एव कलाकार राष्ट्र एव समाज की आशा-आकाक्षाओं के प्रति सचेतन एव सहानुभूतिशील बन कर साहित्यरचना करे, यह केवल वाञ्छनीय ही नही है, वल्कि साहित्य के भविष्य के लिए एक शुभ लक्षण है। सामाजिक आवेष्टन का प्रभाव लेखक के मन पर निरन्तर पडता रहता है और जिन घटनाओं को वह घटित होते हुए देखता है उनकी छाप उसके अतर मे सचित होती रहती है। उसके अन्तर की सचित अनुभूतियाँ ही कला के रूप मे अभिव्यक्त होती है। किन्तु लेखक की सचित अनुभूतियाँ जब भाषा के माध्यम मे साहित्य या शिल्प का रूप ग्रहण करती है तब उनका सपूर्ण रूपान्तर हो जाता है। उसके मन का जो स्वप्न था वह अब अकेले उसी के मन का दिवास्वप्न नही रह जाता। उसके मन की गोपन-कामना शिल्प के रूप मे इस प्रकार आत्मप्रकाश करती है जिससे उसकी अभिव्यक्ति हजारों स्त्री-पुरुषों के मन मे सान्त्वना एव आनन्द का परिवेषण करती है। साहित्य एव कला के लिए यह रूपान्तर आवश्यक है। जिस लेखक मे यह रूपान्तर नही होता, समझना चाहिये, वह सच्चे अर्थ मे साहित्य-स्रष्टा नही है।

हमारे साहित्यिक युग की समस्याओं के प्रति सचेतन होकर साहित्य-सर्जना करे यह अवश्य ही आनन्द का विषय है, किन्तु उन्हे यह स्मरण रखना चाहिये कि समाज के प्रति उनका जो दायित्व है वह केवल एक व्यक्ति के रूप मे ही नहीं बल्कि एक साहित्यिक के रूप मे । लेखक के लिए एक व्यक्ति की अपेक्षा साहित्यिक का कर्तव्य श्रेष्ठ है । यदि वह अपने इस कर्तव्य की उपेक्षा करेगा तो समाज उसकी प्रतिभा एव विशिष्ट क्षमता से वचित रह जायगा । देश मे इस समय अन्न-वस्त्र के लिए हाहाकार मचा हुआ है, जनता का जीवन दुख-दैन्य से पीडित है । इस शोचनीय परिस्थिति का प्रभाव किसी भी सहृदय साहित्यिक के मन पर पडे बिना नही रह सकता । किन्तु अपने मन पर अकित प्रभाव को जब वह साहित्य की विषयवस्तु बनाता है उस समय यह देखना होगा कि उसकी अभिव्यक्ति साहित्यशिल्प के रूप मे हुई है या नही, अर्थात् अपने मन के सस्कारो को वह कलात्मक रूप देने मे समर्थ हुआ है या नही । यदि ऐसा वह नही कर सका तो वह साहित्य घटनाओ की डायरी के सिवा और कुछ नही हो सकता । दैनिक तथा साप्ताहिक पत्रो मे जिस प्रकार घटनाओ के विवरण प्रकाशित होते है साहित्य में भी यदि उन घटनाओ का यथातथ्य वर्णन किया जाय तो फिर साहित्य और पत्र-कारिता मे कोई अन्तर ही नही रह जाता । साहित्य-शिल्पी प्रगतिशील साहित्य के नाम पर अथवा ख्याति किम्वा धनलोभ के कारण यदि अपने कर्तव्य से च्युत होकर पत्रकार बन जाय और साहित्य के बदले डायरी प्रस्तुत करने लग जाय तो साहित्य के लिए यह दुर्भाग्य का ही विषय होगा, और उसकी रचनाओ का वही मूल्य होगा जो सामयिक पत्र-पत्रिकाओ का । साहित्य और समाचार-पत्र दोनो के अलग-अलग क्षेत्र है । दोनो की उपयोगिता है और हमारे जातीय-जीवन के लिए दोनो आवश्यक है । किन्तु साहित्य समाचारपत्र का रूप धारण कर ले यह उसकी मर्यादा के लिए हानि-कर है ।

वर्तमान युग का साहित्य अधिकाधिक वास्तववादी बनता जा रहा है और उसके द्वारा युग-समस्याओं की अभिव्यक्ति होती है यह आक्षेप का विषय नही है। आक्षेप तब किया जाता है जब कि वास्तव प्रधान बन जाता है और साहित्य का आदर्श बन जाता है गौण। वास्तव के आधार पर आदर्श की जो मूर्त्ति प्रतिष्ठित की जाती है वह क्या उतनी ही सत्य नही होती जितना वास्तव। साहित्य-शिल्पी की शिल्प-साधना की सार्थकता इस बात मे ही तो है कि वह स्थूल वास्तव को रूपान्तर की प्रक्रिया द्वारा एक अभिनव मनोरम रूप प्रदान करे। देशवासियो के दुःख-दैन्य से व्यथित होकर लेखक करुणार्द्र बन जाता है और आत्म-प्रकाश के लिए उसके प्राण छटपट करने लगते हैं और अपने अन्तर की मूक वेदना को वह वाणी का रूप देना चाहता है इसमे किसी को भला क्या आपत्ति हो सकती है? किन्तु एक साहित्यशिल्पी की वासना और एक साधारण मनुष्य की करुणा मे बहुत भेद है। एक साधारण मनुष्य करुणार्द्र बनकर अनेक रूपों मे दुःखी व्यक्ति को सहायता कर सकता है, किन्तु साहित्यशिल्पी को तो अपनी करुणा के आवेग को इस रूप मे ही मूर्त करना होगा, जिससे वह साहित्य की सज्ञा प्राप्त कर सके। साहित्य का वास्तव और लौकिक वास्तव एक नही है, इस विषय मे तो दो मत हो ही नही सकते। प्रश्न केवल इस बात को लेकर उठ सकता है कि कौन रचना आदर्शवादी कही जायगी और कौन वास्तववादी—इसकी परख क्या होगी?

मान लीजिए कि कोई लेखक आधुनिक भारत के ग्रामीण जीवन के दैन्य-दारिद्र्य को लेकर साहित्यरचना करने बैठा है। किसान और मजदूरों के शोषण एव उत्पीडन के सम्बन्ध मे वह सचेतन एव सवेदन-शील बनकर अपनी वेदना को साहित्य का रूप देना चाहता है। ऐसी स्थिति मे वह केवल इस विचार से प्रेरित होकर साहित्य की रचना नही करेगा कि देश के प्रति एक नागरिक के रूप मे उसका क्या कर्तव्य

हे वल्कि मुख्यत इस विचार से कि एक लेखक के रूप मे अपने दीन-हीन देशवासियो के प्रति उसका क्या कर्तव्य है। ग्रामीण जीवन के दैन्य-दारिद्र्य का वह विवरण मात्र उपस्थित न करके उसका सजीव चित्रण साहित्य के रूप मे करेगा। यदि ऐसा न हो तो अखबार या सरकारी रिपोर्ट मे प्रकाशित विवरण ओर साहित्य मे भेद ही क्या रह जायगा ? लेखक उपेक्षित एव उत्पीडित सर्वहारा के प्रति करुणाविगलित एव सवेदनशील बनकर साहित्य रचना करे इसमे भला किसी को क्या आपत्ति हो सकती है ? किन्तु यह करुणा दरिद्रनायायण को भोजन कराने अथवा अनाथालय खोलनेवाली करुणा न होकर साहित्य की करुणा हो, अर्थात् उस करुणा की कलात्मक अभिव्यक्ति होनी चाहिये। एक अगरेज समालोचक ने उपन्यास की आलोचना करते हुए लिखा है कि उसमें तीन प्रकार का दूरत्व होना चाहिये। उसके प्रधान चरित्र ओर उनके कार्यकलाप होते है प्रथम दूरत्व। दूसरा दूरत्व होता है उपन्यास की पृष्ठभूमि ओर तीसरा होता है उसका आदर्श। प्रथम दो दूरत्व देश की समसामयिक अवस्था तथा आवेष्टन के साथ जडित होते है जिसके कारण साहित्य पाठको को प्रिय लगता है। तीसरा दूरत्व देशकाल से परे साहित्य मे एक ऐसे अनिर्वचनीय रस की अभिव्यक्ति होता है जो रचना को साहित्य पदवाच्य बनाता है। यह रस केवल सरस ही नही प्रयोजनीय भी हो सकता है। रवीन्द्रनाथ ने जिसे प्रयोजन का आनन्द कहा है।

आदर्शवादी साहित्य के सम्बन्ध मे एक प्रश्न यह उठाया जाता है कि उसमे केवल उन्ही लोगो के जीवन का चित्रण होता है जो समाज के उच्च-स्तर के होते है। अतीत के साहित्य मे केवल नृपतियो एव वीर पुरुषो का जयगान हुआ है और उनके अन्त पुर की राजमिहषियो की विलास-लीलाओ का वर्णन किया गया है। दलितो, शोषितो एव उत्पीडितो के सुख-दु ख, हर्ष-विषाद की अनुभूतियो को साहित्य मे रूपा-

न्वित नही किया गया है । इसका क्या कारण है ? क्या प्राचीन काल के साहित्यकार साधारण मनुष्यो के जीवन के प्रति उदासीन थे ? क्या दलितो एव उत्पीडितो के प्रति उनमे समवेदना एव करुणा का अभाव था ? नही, यह बात नही थी । इन कवियो की काव्यरचना का उद्देश्य कुछ और ही था । इन्होने सब प्रकार के सामाजिक भेदभाव एव वैषम्य से ऊर्ध्व मनुष्य का जो चिरन्तन रूप है उस रूप को ही ऋषि के रूप मे देखा था । मनुष्य का यह जो रूप है जो धनी, दरिद्र , राजा, रक न होकर केवल मनुष्य है उस मनुष्य के दु ख एव वेदना को ही इन्होने वाणी का रूप दिया है । दरिद्र एव धनी, राजा एव रक की सुख-दु ख की अनुभूतियो मे इन्हे कोई अन्तर नही दिखायी पडा । किन्तु इस प्रसग मे कोई यह प्रश्न कर सकता है कि एक मनुष्य के रूप मे दरिद्र की सुख-दुख की अनुभूतियो को प्राचीन कवियो ने अपने काव्य का विषय क्यो नही बनाया ? इसका उत्तर यह हो सकता है कि नृपतियो के दु ख-शोक को काव्य का रूप देकर उसकी तीव्रता एव सार्वजनीनता को जिस प्रकार सर्वजनसवेद्य बनाया जा सकता है उस प्रकार दरिद्रो एव उत्पीडितो के दु खशोक को वाणी का रूप देकर नही । एक दरिद्र एव शोषित-जन के दु ख को यदि काव्य का विषय बनाया जाय तो वह सर्वजन-सवेद्य नही हो सकता । दूसरी बात यह कि मनुष्य की दरिद्रता चिर-कालिक वस्तु नही है । दरिद्र मनुष्य भी सुखी एव सपन्न बन जा सकता है । साहित्य-रस-पिपासु जन साहित्य का रसास्वादन करना चाहते है न कि उसके माध्यम से धनी या दरिद्र-जन की जीवन-कहानी जानना चाहते है । वे मनुष्य के जीवन मे सुख-दुख, हर्ष-विषाद की जो आँख-मिचौनी चलती रहती है––विरह और मिलन मे मनुष्य की जो निगूढ अनुभूतियाँ होती है उनकी कलात्मक अभिव्यक्ति साहित्य मे देखना चाहते है । साहित्य मे इस प्रकार का जब तक विशुद्ध रसास्वादन प्राप्त नही होता उन्हे परितृप्ति नही होती ।

प्राचीन कवियो ने राजा-रानियो को अपने काव्य की नायक-नायिका बनाया है सही किन्तु उन्होंने उनके राजत्व अथवा राजकीय ऐश्वर्य की महिमा का वर्णन नही किया है। कालिदास के मेघदूत और शकुन्तला मे राजकीय ऐश्वर्य का वर्णन न होकर विरह-मिलन की उन सुकुमार अनुभूतियो का वर्णन हुआ है जो मनुष्य मात्र के लिए सवेद्य है। विरही यक्ष का दुख केवल उसका दुख न रह कर सब देश और सव काल के मनुष्यो का विरह-दुख बन गया है। इसी प्रकार शकुन्तला की जो प्रणय-लीला एव विरह-वेदना व्यक्त हुई है उसके ऊपर राजत्व की छाप अकित नही है। इसलिए ही ऋषि-आश्रम की कन्या राजमहिषी बनने पर भी अपने दुख मे साधारण गृहस्थ घर की कन्या ही बनी रहती है। तपोवन मे शकुन्तला के विदाग्रहण के समय का जो दृश्य चित्रित हुआ है वह आज भी हमारे नेत्रो के सामने उस कारुणिक दृश्य को उपस्थित कर देता है जब माता-पिता ममतापूर्ण हृदय लेकर सजल नेत्रो से अपनी कन्या को पतिगृह भेजते है। भवभूति ने उत्तर रामचरित मे जिस करुण रस की अवतारणा की है और उसका अनुभव करके "अपि ग्रावा रोदिति अपि दलति वज्रस्य हृदयम्"—पत्थर भी रो पडता है और वज्र की छाती भी विदीर्ण होने लगती है—वह दुख, वह करुणा राजमहिषी सीता का दुख नही है वल्कि पति द्वारा निर्वासित एक निरपराधिनी पत्नी की मर्मन्तुद जीवन-गाथा है। यहाँ सीता का दुख हमारे सामने एक मानवी के दुख के रूप मे ही उपस्थित होता है, तभी तो इतने दिनो के बाद आज भी मेघदूत, शकुन्तला और उत्तर रामचरित सहृदय पाठको की रसानुभूति को उद्दीप्त करके उनके नेत्रो को गीला बना डालते है।

मनुष्य एक प्राणी के रूप मे अपने जैव जीवन की स्थूल आवश्यकताओ की पूर्ति मे लगा रहता है। समाज मे रहते हुए वह समाज के आवेष्टन से प्रभावित होता रहता है। सामाजिक शिक्षा, दीक्षा एव सस्कृति के अनुसार उसके विचारो एव सस्कारो मे परिवर्तन होते रहते

है । इन सब के बीच उसका जो एक शाश्वत मानव रूप है जो सब प्रकार के सामयिक आवेष्टनगत तथा सस्कारगत प्रभावो से मुक्त है उसका पता नही चलता । इन सब भेद-भावो के कारण केवल एक देश और दूसरे देश के मनुष्यो मे ही नही बल्कि एक देश के ही मनुष्य-मनुष्य मे भेद-प्रभेद है । किन्तु मनुष्य के अन्दर जो शाश्वत मनुष्य है उसमे देशगत किम्वा कालगत भेद नही है । यहाँ सब मनुष्य आत्मीयता के वन्धन मे आवद्ध है । जो सच्चे कवि होते है वे अपनी दिव्य दृष्टि से मनुष्य के इस चिरन्तन रूप को हृदयङ्गम करके उसकी जीवनगाथा को व्यक्त करते है जिससे उनका काव्य कभी पुराना नही पडता । वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि कवियो ने इस रूप मे ही अपने-अपने चरित-नायको के जीवन के मार्मिक स्थलो का चित्रण किया है जिससे वे मार्मिक स्थल केवल उनके ही जीवन के नही प्रत्युन मनुष्य मात्र के जीवन के मार्मिक स्थल वन गये हैं ।

समसामयिक घटनाओ की पृष्ठभूमि पर जो साहित्य रचा जायगा उसमे पूर्ण साहित्यकता लाने के लिए अर्थात् उसे साहित्यिक स्वरूप देने के लिए यह आवश्यक है कि लेखक मे घटना-विशेष को देखने की असाधारण दृष्टि एव क्षमता हो । जो प्रतिभाशाली लेखक होते है उनमे यह असाधारण दृष्टि होती है । इस प्रकार की अन्तर्भेदिनी दृष्टि लेकर जब लेखक घटना-विशेष अथवा किसी महापुरुष के जीवन को देखता है तब उसका शाश्वत रूप उसकी पकड मे आ जाता है और उसकी रचना साहित्य की सज्ञा प्राप्त करती है । इस प्रकार समसामयिक घटनाओ को लेकर भी श्रेष्ठ साहित्य की रचना हो सकती है यदि लेखक मे यह प्रतिभा हो जिसके बल पर वह घटना के बाह्य रूप का भेदन करके उसके अन्तर्निहित चिरन्तन रूप को देख सके । इसके लिए यह भी आवश्यक है कि लेखक की प्रतिभा अपने देश की सास्कृतिक भावधारा से रस ग्रहण करके अपने को सजीवित करती रहे । ऐसा नही होने से

वह प्रतिभा सामयिकता के निम्नतम स्तर मे प्रवेश करने की अपनी क्षमता को खो बैठती है और मानव मन के ऊपरी सतह को छूकर ही रह जाती है। आधुनिक लेखको मे अधिकाश की कृतियाँ जो सामयिक जीवन-स्तर को प्रभावित करके ही विलीन हो जाती है उसका एक बहुत बडा कारण यह है कि लेखक की प्रतिभा अपने देश की परम्परा से विच्छिन्न होकर सामयिक घटनाप्रवाह मे ही उलझी रह जाती है। उसकी प्रतिभा विदेशी सस्कृति से रस ग्रहण करके अपने को सजीवित रखने की चेष्टा करती है। इसलिए वह अपनी रचनाओ को विदेशी टेकनीक से रँग कर उसे कलात्मक रूप तो दे देता है किन्तु उसमे उस विराटत्व की प्रतिष्ठा नही कर पाता जो जातीय जीवन के सपूर्ण अस्तित्व को आन्दो-लित और उसके मर्म को प्रभावित कर सके। हमारे जातीय जीवन पर विदेशी भावधारा का चाहे जितना ही व्यापक प्रभाव पडा हो किन्तु उसका अन्तर्मन अब भी अपने स्वरूप को धारण किये हुए है। इस अन्तर्मन को स्पर्श करने के लिए यह आवश्यक है कि लेखक जातीय जीवन के मूल तत्त्व से प्रेरणा ग्रहण करके साहित्य की रचना करे। ऐसा होने से उस साहित्य के ऊपर विदेशी टेकनीक का चाहे जैसा गाढा रग चढा हो किन्तु उसका प्राण-प्रवाह समयिकता के निम्नतम स्तर मे प्रवेश करके अपने को कालजयी बनाये रखेगा। उसके रस का प्रस्रवण कभी शुष्क होने नही पायगा।

आधुनिक लेखको मे अनेक ऐसे है जिनमे विद्या, बुद्धि एव आसामान्य प्रतिभा है। किन्तु अपने को जातीय जीवन एव सास्कृतिक परपरा के साथ सश्लिष्ट रख कर सामयिक घटनाओ के अन्तरतम मे प्रवेश करने-वाली दृष्टि का उनमे अभाव है। इसलिए वे विदेशी टेकनीक के ढाँचे पर अपनी रचनाओ का रूपविन्यास तो करते है, उसमे कलात्मक चत्मकार भी ला देते है किन्तु उसके प्राणो मे उस अक्षय, अविनाशी रस की प्रतिष्ठा नही कर पाते जो साहित्य को चिरन्तन बनाता है।

इस चिरन्तन रस के अभाव मे साहित्य सामयिक जीवन एव उसकी घट-नाओ का कलात्मक विवरण मात्र उपस्थित करता है वास्तव को अति-क्रम करके स्थायी रस की सृष्टि नही कर पाता। उसमे सामयिक जीवन का सुन्दर चित्रण दलितो एव पीडितो के प्रति सहानुभूति तथा पाठको के मन को सामयिक भाव से प्रभावित एव आन्दोलित करने की क्षमता तो होती है किन्तु वह स्थायी तत्व नही होता जो देश, काल की सीमा को अतिक्रम करके एकमात्र साहित्य के रूप मे सब श्रेणी के पाठको के मन को स्पर्श करता रहे। यह सच है कि इस श्रेणी के साहित्यक सब देशो मे सब काल मे विरले ही उत्पन्न हुए है, किन्तु साहित्य मे विराट की प्रतिष्ठा ऐमे साहित्यकार द्वारा ही होता है जो साहित्य के आसन-को चिरकाल के ऊपर प्रतिष्ठित करता है और जाति के जीवन को महिमा-शाली वनाता है।

आधुनिक कविता और पाठक

कुछ समय पहले यह समाचार प्रकाशित हुआ था कि फ्रास की शिक्षित जनता मे कविता की कदर बहुत कम हो गयी है। इतनी कम कि कविता की पुस्तको के लिए प्रकाशक नही मिलते। किन्तु फूल की कदर करने-वाला कोई हो या न हो, बाजार मे वह बिके या न बिके वह फूले विना नही रह सकता। इसी प्रकार कविता के कद्रदाँ न हुए तो क्या, कविहृदय तो कविता की सृष्टि करेगा ही। इसलिए फ्रास के कवि प्रकाशको की उपेक्षा करके कविता लिखते जा रहे है। किन्तु कविता ऐसी चीज नही है कि कवि उसे अपनी कापी पर लिख कर ही आत्म-सतोष कर ले। कवि की सबसे बडी साध यह होती है कि कविता के माध्यम से वह अपनी अनुभूति एव आवेग को अधिक से अधिक पाठको तक पहुँचा सके और उनके अतर मे रसानुभूति जगा सके। और यह भी एक तथ्य है कि कवि चाँद और चाँदनी, कोयल और पपीहा की कुहू को लेकर चाहे कितना ही कल्पना के कमल बन मे बिहार करता रहे, किन्तु इससे उसके वास्तव जगत् का प्रयोजन नही मिट सकता। उसे अपना तथा अपने परिवार के लोगो का भरण-पोषण करना है, इसलिए कोई रोजगार तो चाहिए ही। ऐसी अवस्था मे फ्रास के कवि अपने निभृत निवास मे कब तक बैठे रह सकते थे। वे सीधे बाजार मे पहुँच कर फेरीवाले की तरह अपनी-अपनी कविता की पाडुलिपि या टाइप की हुई कापी बेचने लगे। और उनकी पाडुलिपियो की कुछ-कुछ बिक्री भी होने लगी है।

केवल फ्रास मे ही नही हमारे देश मे भी कविता की दर और कदर कम होती जा रही है। कलकत्ते के तरुण बगाली कवियो के सम्बन्ध में

हाल मे यह समाचार सुनने को मिला था कि वे सडको पर जन-समूह के सामने अपनी कविताएँ गा-गा कर बेच रहे है। फ्रास जो किसी समय साहित्य एव कला के लिए विश्ववरेण्य बना हुआ था, वहाँ की जन-रुचि क्या आज इतनी हीन हो गयी है कि कविता-पुस्तको के क्रेता नही मिलते ? और हमारे देश मे वाल्मीकि, कालिदास, सूर और तुलसीदास से लेकर रवीन्द्रनाथ तक कवियो की जो एक गौरवपूर्ण परम्परा चली आ रही है वह परम्परा क्या अब लुप्त हो जायगी ? एक समय वह था जब कि कविगण राजाश्रित होकर राजदरबारो में अपनी कविताएँ सुनाया करते थे और शाल-दुशाला, जामा, हाथी-घोडे, जमीन-जागीर पुरस्कार के रूप मे प्राप्त करते थे। फिर चारण बन-कर कवि गाँव-गाँव मे और राजाओ के युद्ध-शिविरो मे घूमते और वीररसपूर्ण कविताएँ सुनाकर लोगो के जोश को उभाडा करते थे। इसके लिए भी उन्हे प्रचुर पुरस्कार मिलता था। कभी-कभी कोई रूपसी प्रसन्न होकर उनके गले मे हार भी डाल देती थी। इसके बाद जब छापाखाने का युग आया तब छपी पुस्तको द्वारा कवि अपनी रचनाओ को सर्वसाधारण तक पहुँचाने लगे। उस समय से लेकर अब तक कविता-पुस्तको द्वारा ही रसपिपासु पाठक कविता का रसास्वादन करते आ रहे है। सारे सभ्य ससार मे यही रीति प्रचलित है। किन्तु बीसवी शताब्दी के मध्य तक पहुँचने के बाद ऐसा लग रहा है कि अब कविता के रसज्ञ पाठक नही रह गये है। तभी तो कवि को अपनी कविताओ को लेकर फेरी करना पड रहा है। कविता का बाजार आज मदा पड गया है। प्रकाशक शिकायत करते है कि कविता की पुस्तको की खपत नही। तरुण कवि अपने खर्च से या अपने कृपालु धनी मित्र की सहायता से दो-चार पुस्तके अवश्य निकालते रहते है किंतु उनके खरीदार नही जुटते। इसलिए कवियो मे कोई अध्यापक, कोई शिक्षक, कोई पत्रकार और कोई सरकारी कर्मचारी बनकर जीविका-

निर्वाह कर रहे है और कवितालक्ष्मी केवल अपने दुर्दिन पर आँसू वहा रही है।

अतीत युग मे साहित्य का अर्थ एकमात्र काव्य-साहित्य ही समझा जाता था और हमारे जीवन के सभी क्षेत्रो मे उसकी सत्ता निर्विवाद थी। विशुद्ध साहित्य की तो बात ही नही वैद्यक, और ज्योतिष जैसे विषयो के नीरस सिद्धान्त भी कविता के माध्यम से ही व्यक्त होते थे। कविता के इस कूलप्लावी स्रोत मे सब कुछ का समावेश हो जाता था। किन्तु ऐसा लगता है कि कविता प्रौढत्व को प्राप्त करके अब वानप्रस्थ ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत हो रही है और उसके स्थान पर अब गद्य का राज्याभिषेक हो रहा है। यह ठीक है कि आज भी बीच-बीच मे दो-एक ऐसे प्रतिभाशाली कवियो का अभ्युदय देखा जाता है जो कविता के स्रोत को शुष्क होने नही देते और उसकी धारा को निरवच्छिन्न वनाये रहते है। किन्तु इनका तिरोधान होते ही हमारा काव्य-प्रेम शिथिल होने लगता है। एक सुदीर्घ काव्य-परम्परा के उत्तराधिकारी होने के नाते काव्यप्रीति हमारी अस्थिमज्जा मे अनस्यूत है, किन्तु आज उसकी अभिव्यक्ति का मार्ग क्रमश सकुचित होता जा रहा है। कविता के पाठको की सख्या कम हो रही है। यदि यह कहे कि कविता करनेवाले कवियो और कविता पढनेवाले पाठको की सख्या के बीच का अन्तर बहुत अधिक नही रह गया है तो यह कोई अत्युक्ति नही होगी।

कविता की लोकप्रियता मे जो ह्रास हो रहा है, इसका कारण क्या है? यदि कविता के प्रति पाठक वीतश्रद्ध हो रहे है तो इसके लिए क्या एकमात्र वे ही दोषी है? कविता की अपेक्षा उपन्यास और कहानियो के पाठको की सख्या द्रुत गति से बढ रही है। क्यो? क्या इसलिए कि गद्य की ओर पाठको की प्रवृत्ति पद्य की अपेक्षा अधिक हो रही है? पाठको की ओर से यह कहा जाता है कि आधुनिक कविता के नाम पर जो उद्भट वस्तु हमारे सामने रखी जाती है, वह हमारी समझ मे खाक नही

आती । उसका रूप, उसकी प्रकृति हमे सर्वथा अपरिचित जैसी प्रतीत होती है । इन कविताओ को पढकर हमे आनन्द नही मिलता । हमारा मन मुग्ध नही होता । और जब कविता पढ कर हम मुग्ध नही होते तो फिर उसे क्यो पढे ? कविताएँ हमे आनन्द प्रदान करती थी, हमारे मर्म को स्पर्श करती थी और उनकी झकार हमारी हृत्तत्री के तारो को झकृत कर देती थी, इसलिए हम उन्हे चाव से पढते थे और पढकर कभी हँसते थे, कभी रोते थे और कभी अपने अदर उत्साह एव उमग के उन्माद का बोध करते थे । आधुनिक कविता को जब हम समझ ही नही पाते तो फिर हमारा मन किस तरह मुग्ध होगा ?

आधुनिक कविता के सम्बन्ध मे औसत पाठको का यह जो आक्षेप है, उस पर विचार करने की आवश्यकता है । इसमे सन्देह नही कि कविता के क्षेत्र मे बडी तेजी से नूतनता का प्रवेश हो रहा है । क्या विषयवस्तु, क्या प्रकाश-भगी और क्या शब्द-चयन सब कुछ मे एक नूतनता । द्विवेदी युग मे काव्यधारा जिस मार्ग से होकर प्रवाहित हो रही थी, छायावादी युग मे उसका सपूर्ण रूपान्तर हो गया । किन्तु छायावादी युग के बाद से कविता के क्षेत्र मे जो नये-नये प्रयोग होने लगे है, उनसे कविता के रूप एव प्रकृति मे आमूल परिवर्तन हो गया है । छायावादी युग मे ही कविता के साथ पाठक-समाज का हार्दिक योगसूत्र छिन्न होने लगा था जो फिर जुट नही सका । छायावाद युग के आरम्भ मे, कविता मे जो अस्पष्टता एव दुरूहता पायी जाती थी, वह बाद मे चलकर बहुत-कुछ कम होने लगी । किन्तु वीतश्रद्ध पाठको मे उन कविताओ के प्रति श्रद्धा-भाव पुन जाग्रत नही हुआ, जिससे विना पढे ही वे कविता को दोष देने लगे । पाठको की रुचि पर ध्यान रखकर कवि कविता लिखे, यह नही हो सकता । पाठको मे भी कविता पढने की पिपासा जगनी चाहिये । साहित्य की अन्य शाखाएँ चाहे कितनी ही उन्नतिशील क्यो न हो, किन्तु एकमात्र कविता

ही मनुष्य के जीवन मे सब क्षणो के लिए सगी हो सकती है ? उसके सुख-दु ख, हर्ष-विषाद की भावना को रसपूर्ण बना सकती है । प्राचीन काल मे जो वर्णनात्मक काव्य लिखे जाते थे, उनमे एक बडा गुण यह होता था कि पाठक को कविता के साथ-साथ कहानी पढने का भी ग्रानद मिलता था । ग्राज इस प्रकार की वर्णनात्मक कविताएँ बहुत कम लिखी जाती है ।

एक बात ग्रोर है । कविता के सम्बन्ध मे, कवियो मे भी पहले जैसा उत्साह नही देखा जाता । कविता के साथ साहित्यिक जीवन ग्रारभ करनेवाले कवि बाद मे चलकर उत्साह खो बैठते है ग्रौर साहित्य के किसी दूसरे ग्रग की उपासना मे रत हो जाते है । प्राचीन कवियो जैमी उनमे निष्ठा नही देखी जाती । जिनमे गद्य लिखने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है ग्रौर जो गद्यरचना निपुणता के साथ कर सकते है, उन्हे कविता के क्षेत्र मे प्रवेश करना ही नही चाहिये । कवि के लिए यह ग्रावश्यक है कि वह एकनिष्ठ साधक बनकर कविता की साधना करे । तभी वह वाणी का वर-पुत्र बन सकता है ग्रोर ग्रपनी रचनाग्रो से पाठको को तृप्त कर सकता है ।

कविता हमारे जीवन के साथ ग्रपना योग-सूत्र क्यो खोती जा रही है, इस प्रश्न पर विचार करते समय हमे ग्राज के जीवन की ग्रोर दृष्टिपात करना है । महाकाव्य ग्रोर काव्य के युग मे जो ग्रनुकूल वातावरण था, वह ग्राज नही रहा । उस समय मनुष्य का जीवन सहज, शात एव निर्दिष्ट था । प्रत्येक व्यक्ति एक बँधे-बँधाये जीवन को लेकर पहले से सुनिश्चित मार्ग पर चल रहा था । जीवन की किसी नीति के सम्बन्ध मे उसके मन मे कभी कोई प्रश्न नही उठता था । इसलिए वह ध्यान-समाहित भाव से काव्य को पढता था ग्रौर स्वाभाविरूप मे मुग्ध होता था । किन्तु ग्राज जिस वातावरण के बीच वह रह रहा है, उसमे उसका मनपग-पग पर सशयाकुल बना रहता है। जीवन मे समस्याग्रो

का कोई अन नही । जीवन-सग्राम की जटिलता ज्यो-ज्यो बढती जाती है, मनुष्य का मन त्यो-त्यो चिता-ग्रस्त होता जा रहा है । आज जीवन की कोई ऐसी नीति या ऐसा आदर्श नही, जिसके आगे प्रश्न-चिह्न नही लगा हुआ हो । सब कुछ के प्रति सदेह की भावना ! ऐसी मन स्थिति मे कविता द्वारा समस्याओ का समाधान उस रूप मे नही हो सकता, जिस रूप मे गद्य द्वारा । उपन्यास साहित्य मे जिस प्रकार जीवन की जटिल समस्याओ और गुत्थियो को लेकर विचार-विश्लेषण किया जाता है और उनका किसी न किसी रूप मे समाधान उपस्थित किया जाता है, वैसा कविता मे सभव नही हो सकता । क्योकि उपन्यास की तरह कविता की परिधि व्यापक नही होती ।

मनुष्य की आकाक्षाएँ आज बहुत बढ गयी है । अपनी आकाक्षाओ की पूर्ति के लिए उसके अतर मे अदम्य पिपासा जाग उठी है । वह चाहता है सुन्दर एव परिपूर्ण जीवन । जीवनरस का वह आकठ पान करना चाहता है । इसलिए जो काव्य उसकी इस तृष्णा को परितुष्ट कर सकेगा, उसे वह अवश्य ग्रहण करेगा । जीवन से विच्छिन्न कविता चाहे वह कितनी ही कल्पनाप्रवण एव कमनीय क्यो न हो, उसे परितोष प्रदान नही कर सकती । परिपूर्ण जीवन का अर्थ है जीवन मे पूर्ण आनन्द । और कविता यदि इस पूर्ण आनन्द का परिवेषण नही कर सकती तो फिर वह कवित ही क्या ?

साहित्य के क्षेत्र मे आनन्द दो प्रकार से हम प्राप्त करते है । एक बुद्धि के द्वारा और दूसरा अनुभूति के द्वारा । बुद्धि का सम्बन्ध मस्तिष्क से है और अनुभूति का हृदय से । आदिम युग से लेकर अब तक मनुष्य न्यूनाधिक रूप मे भावुक एव अनुभूतिशील रहा है । भावुकता का अश कुछ न कुछ प्रत्येक मनुष्य मे रहता है ही । किन्तु सब मनुष्य बुद्धिमान या विचारशील नही होते । मनुष्य की भावना को जितनी सरलता से उभाडा जा सकता है, उतनी सरलता से उसकी विचार-बुद्धि को जागरित नही किया जा सकता । जिन्हे हम असभ्य मनुष्य कहते है वे भावनाप्रवण

अधिक होते है, इसलिए बुद्धि से बिलकुल काम नही लेते । बुद्धि या विचार द्वारा जो आनन्द मिलता है वह सीधा न होकर मन की अनेक प्रक्रियाओ द्वारा प्राप्त होता है । किन्तु अनुभूति का आनन्द सीधा प्राप्त होता है । अनुभूति तत्काल हमारे हृदय को स्पर्श करके हमारी भावना को सवेदन-शील बना डालती है । यही कारण है कि प्राचीन काल से लेकर अब तक कविता साधारण पाठको की भावना एव वेदना को आलोडित करके उन्हे प्रत्यक्ष भाव से आनन्द प्रदान करती आ रही है । किन्तु आधुनिक कविता मे अनुभूति की अपेक्षा बुद्धि की प्रधानता होती जा रही है । वह हमारी बुद्धि को उद्दीप्त करती है और हमारे मस्तिष्क के लिए विचार की सामग्री जुटाती है । उसमे कल्पना के चमत्कार की अपेक्षा भाव की गहनता होती है । उसका आनन्द हृदय को अनुभूति द्वारा नही, बुद्धि की कसरत द्वारा प्राप्त किया जा सकता है । कविता के साधारण पाठक अब तक उससे अनुभूति का प्रत्यक्ष आनन्द प्राप्त करने के आदी रहे है । साधारण पाठको की विचार-बुद्धि इतनी सूक्ष्म एव परिणत नही होती कि वे अप्रत्यक्ष रूप मे कविता का आनन्द ले सके । वे अनुभूति का आनन्द चाहते है जो प्रत्यक्ष रूप मे उन्हे अपनी भावुकता द्वारा प्राप्त होता है । बौद्धिक दृष्टि से कविता के साधारण पाठक अभी तक उस स्तर पर नही पहुँचे है जहाँ से वे विचारप्रधान आधुनिक कविता का रसास्वादन कर सके । वे अभी तक भावनाप्रधान ही बने हुए है और अपने नित्य के जीवन मे भी विचार-बुद्धि की अपेक्षा भावना से ही अधिक काम लेते है । इस-लिए केवल कवियो के बौद्धिक होने से काम नही चलेगा । पाठको को भी बुद्धि के राज्य मे ले जाकर उन्हे विचारशील अधिक और भावुक कम बनना सिखाना होगा । हृदय के साथ-साथ जब वे मस्तिष्क से काम लेना सीखेगे तभी उनकी विचार-बुद्धि प्रखर होगी और वे तब आधुनिक कविता के रूप और उसकी प्रकृति को हृदयङ्गम कर सकेगे । आधुनिक कविता नये-नये प्रयोगो को लेकर जिस गति से आगे बढती जा रही है, साधा-रण पाठक उसकी अपेक्षा बहुत पीछे पडे हुए है । इसलिए उन्हे बताना

होगा कि आधुनिक कविता मे भी आनन्द का उपादान है। उसका रूप, उसकी प्रकृति, उसकी प्रकाशभंगी अभिनव अवश्य है किन्तु उसका प्राण-रस––जिसका आस्वादन करके रसिक पाठक आनन्द प्राप्त करते है––आज भी अपरिवर्तनशील बना हुआ है। हाँ, यह बात दूसरी है कि आधुनिक कविता कहाँ तक अपने अदर इस प्राणरस को, आनन्द दान करने की क्षमता को अव्याहत रखने मे सफल हो रही है।

―――

साहित्य में व्यंग्य-विद्रूप

इस समय जिस युग में हम रह रहे हैं, वह एक विलक्षण युग है। एक ओर जहाँ प्राचीन आदर्शों एवं विश्वासों को अन्ध-विश्वास एवं कुसंस्कार बताकर उनके मूल में कुठाराघात किया जा रहा है, वहाँ दूसरी ओर ऐसे आदर्शों एवं मतवादों को प्रश्रय दिया जा रहा है, जो केवल अभूतपूर्व ही नहीं, बल्कि सर्वथा अस्वाभाविक एवं भीषण प्रतीत होते हैं। गणतंत्र के इस युग में भी डिक्टेटर का आविर्भाव संभव हो सकता है और उसके दम्भ, दर्प एवं स्पर्धा को सब प्रकार से बढ़ावा देने के लिए लाखों सभ्य, शिक्षित मनुष्य उसकी स्तुति कर सकते हैं। ज्ञान-विज्ञान के इस आलोकमय युग में भी एक-एक मतवाद की अन्ध-पूजा हो सकती है और उस मतवाद के प्रवर्त्तक तथा उसके सिद्धान्तों की दोहाई देकर मध्ययुगीय घोर धार्म्मिक कट्टरता प्रदर्शित की जा सकती है। स्वाधीनता, समानता एवं बंधुत्व के सिद्धान्तों को एक ओर जहाँ सर्वमान्यता प्रदान की जाती है, वहाँ दूसरी ओर मनुष्य मनुष्य के बीच उत्कट भेद-वैषम्य की सृष्टि करके हिंसा, द्वेष एवं घृणा का निर्लज्ज प्रचार किया जाता है। मतवाद की अन्ध-पूजा के नाम पर सत्य का उपहास किया जाता है और एक-एक अहंकारोन्मत्त व्यक्तित्व-संपन्न मनुष्य की अहंभावना की, उसकी दुष्ट महत्वाकांक्षा की पूर्त्ति के लिये देश के युवकों के आदर्शवाद को, भ्रष्ट एवं विकृत रूप प्रदान किया जाता है। मानव-मन की स्वतन्त्रता, उसकी विचार-बुद्धि की स्वाधीनता, इस युग में जितनी संकुचित एवं पददलित हुई है, उतनी शायद ही पहले कभी हुई हो। विश्वमानवता के आदर्श को वास्तव रूप देने के लिये जहाँ विभिन्न राष्ट्रों के बड़े-बड़े मनीषी राजनीतिज्ञ, दार्शनिक एवं मानव-प्रेमी महापुरुष अपनी विद्याबुद्धि एवं विवेक-शक्ति का उपयोग कर रहे

है, वहाँ दूसरी ओर राष्ट्रदेवता की आराधना के नाम पर राष्ट्रो के बीच भेद-भाव की ऊँची दीवार खडी करके उन्हे परस्पर की प्रतिद्वन्द्विता एव शत्रुतामूलक स्पर्धा के लिये तैयार किया जाता है। कही रगभेद और कही धर्मभेद के नाम पर मनुष्य-मनुष्य के बीच बडे-छोटे की भावना को प्ररोचना प्रदान की जाती है और एक मनुष्य को दूसरे से श्रेष्ठ केवल इसलिए बताया जाता है कि वह श्वेतवर्ण है अथवा किसी धर्म-विशेष का अनुयायी है। मनुष्य के मनुष्यत्व की मर्यादा को क्षुण्ण करके, उसके व्यक्तित्व पर आघात करके दल को महत्त्व प्रदान किया जाता है और मनुष्य का मूल्याकन उसके नैतिक गुणो की कसौटी पर नही, उसकी अर्थोपार्जन की छमता की कसौटी पर किया जाता है। जो राजनीतिज्ञ जितना अधिक धूर्त, कुटिल एव परधन अथवा परराज्यलोलुप होता है, वह उतना ही बडा बुद्धिमान, राष्ट्रसेवी एव देशभक्त समझा जाता है। गणतत्र अथवा लोक-तत्रात्मक शासन का अर्थ होता है क्षमताशाली किसी वर्ग-विशेष का शासन और स्वाधीनता का अर्थ होता है वोट देने की स्वाधीनता तथा आर्थिक पराधीनता एव दासता। गणतत्र के नाम पर, मानव स्वाधीनता की रक्षा के नाम पर विश्वव्यापी युद्ध मे प्रबलो के विरुद्ध दुर्बलो का पक्ष ग्रहण करनेवाले राष्ट्र भी युद्ध मे विजय प्राप्त करके अपनी स्वार्थ-साधना के सुयोग तथा प्रभाव प्रतिपूर्त्ति के विस्तार के लिये षड्यत्र रचने लग जाते हैं। राष्ट्रो को अपने प्रभाव मे लाकर गुट बनाये जाते है और इस प्रकार एक-एक शक्तिशाली प्रतापी राष्ट्र अपने वाणिज्य व्यवसाय की वृद्धि के लिए प्रभाव-क्षेत्र कायम करते है। स्वदेश मे जहाँ गणतत्र का गुणगान किया जाता है, वहाँ स्वदेश से बाहर राजनीतिक अथवा आर्थिक साम्राज्यवाद के लिये दुर्बल राष्ट्रो की स्वाधीनता का अपहरण तथा उनके समृद्धि-साधनो का शोषण किया जाता है। इस प्रकार जब समाज एव राष्ट्र के जीवन मे मिथ्या आदर्शो की पूजा होने लग जाती है और एक-एक महन् आदर्श के नाम पर अन्याय, अत्याचार, पाखड एव भण्डना को

प्रश्रय दिया जाने लगता है, उस समय साहित्यक्षेत्र मे किसी ऐसे प्रतिभा-शाली लेखक का जन्म होता है जो व्यग्य एव विरूप द्वारा समाज की प्रचलित धारणाओ एव मान्यताओ के ऊपर निष्ठुर रूप मे कशाघात करता है । नैतिक उन्मादना से प्रेरित होकर वह भ्रान्त विश्वासो एव सस्कारो के विरुद्ध तीक्ष्ण व्यग्य-बाण निक्षेप करता है और जाति के हृदय को स्पर्श करके उसमे नूतन चेतना भरने की चेष्टा करता है । इस प्रकार के साहित्य की रचना वही कर सकता है जिसने जाति की व्यथा-वेदना को मार्मिक रूप मे अनुभूत किया है । उसके द्वारा रचित साहित्य मे उसके अन्तर की निविडतम अनुभूति जडित होती है । तभी तो वह साहित्य जाति के प्राणो को स्पर्श करने मे समर्थ होता है । साहित्य में व्यग्य-विरूप की अवतारणा करके उसके द्वारा समाज को उसकी दुर्बल-ताओ एव त्रुटियो के सम्बन्ध मे सचेतन करने की जो अद्भुत क्षमता होती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है । मनुष्य साधारणत अपनी भूल-भ्रान्तियो एव चरित्र की दुर्बलताओ के सम्बन्ध मे अचेतन बना रहता है । वह अपनी प्रवृत्तियो के वश होकर कभी-कभी अत्यन्त असगत आचरण कर बैठता है । उसके वचन एव कर्म मे किसी प्रकार का सामञ्जस्य न होने से वह अपने को उपहास का पात्र बनाता है, फिर भी उसे अपने आच-रण की असगति का कोई ज्ञान नही होता । अपनी अहभावना मे वह इतना डूबा हुआ होता है कि मिथ्या अभिमानवश वह अपनी दुर्बलताओ को समझ ही नही पाता । उसके आचरण कभी-कभी इतने बालकोचित एव हास्यास्पद होते है कि यदि वह स्वय उनके सम्बन्ध मे अवगत हो जाय, तो उसे अपने आप पर हँसी आये बिना नही रह सकती । मनुष्य की इस दुर्बलता को दूर करने के लिये ही साहित्य मे हास्यरस के अन्तर्गत व्यग्य (Satire) की अवतारणा की जाती है ।

यूरोप मे किसी समय धर्म के नाम पर जो कुसस्कार एव अन्ध-विश्वास फैले हुए थे और धार्म्मिक कट्टरता के वशीभूत होकर धर्म के

ेकेदार पादरी, पुरोहित आदि किस प्रकार समाज के अन्दर पाखड एवं अनाचार को प्रश्रय दे रहे थे, इसका परिचय हमे उस युग के व्यग्यात्मक साहित्य मे मिलता है । अपने धार्मिक विचारो को सत्य प्रमाणित करने के लिये उस युग मे मनुष्य मनुष्य की हत्या करने मे जरा भी नही हिचकता था । इतना ही नही, बल्कि अपने धार्मिक विश्वास या मतवाद को दूसरे के ऊपर बलपूर्वक लादने के लिये उसे जीते-जी जला डालना, उसके ऊपर अमानुषिक बर्बर अत्याचार करना पुण्यप्रद कार्य्य समझा जाता था । वर्त्तमान युग मे भी राजनीतिक क्षेत्र मे किसी मतवाद-विशेष को दूसरो के ऊपर लादने के लिए अत्याचार एव उत्पीडन का किस प्रकार आश्रय ग्रहण किया जा सकता है इसका परिचय हम नात्सी जर्मनी और फासिस्त इटली मे पा चुके है । यूरोप मे जिस समय धर्म के नाम पर उन्मत्त कट्टरता एव पाशविक निष्ठुरता फैली हुई थी, उस समय दो ऐसे प्रतिभाशाली लेखको ने जन्म ग्रहण किया था, जिन्होने साहित्य मे व्यग्य एव विरूप की अवतारणा करके प्रचलित विश्वासो की धज्जियाँ उडायी थी और उनके हास्यास्पद रूप को समाज के सामने रखा था ।

स्विफ्ट और वालटेयर उस युग के दो ऐसे शक्तिशाली लेखक है जिन्होने व्यग्य के तीक्ष्ण शराघात द्वारा समाज को उसकी उपहासास्पद दुर्वलताओ के सम्बन्ध मे सचेतन करने का प्रयास किया है । स्विफ्ट के गुलिवर्स ट्रावल से प्राय सभी पाठक परिचित है । किन्तु उनके व्यग्य का जैसा तीक्ष्ण रूप उनकी अन्य रचना 'द भ्वायज टू ब्रोबडिगनेग' से मिलता है वैसा अन्यत्र नही । यहाँ सभ्य मनुष्य की हिसात्मक प्रवृत्ति का कितना व्यग्यपूर्ण कटु चित्र चित्रित किया गया है ! गुलिवर ब्रोब-डिगनेग के राजा के साथ मैत्री सम्बन्ध जोडता है और उसके सामने यह प्रस्ताव रखता है कि वह राजा को बारूद का गुप्त रहस्य बता दे सकता है जिससे वह अपने देश को अच्छी तरह काबू मे रख सके, और उसकी निरकुश सत्ता के विरुद्ध यदि उसकी प्रजा कभी सिर उठाने का

साहस करे तो वह बारूद का प्रयोग करके सपूर्ण राजधानी को विध्वस्त कर डाले । इस प्रस्ताव पर राजा अत्यन्त भयभीत हो उठता है और आश्चर्य प्रकट करता है कि "गुलिवर-जैसे एक अशक्त एव अधम कीट के लिये इस प्रकार के अमानुषिक विचार अपने मन मे धारण करना किस प्रकार सभव हो सकता है ।" राजा कहता है कि अपने राज्य का आधा हिस्सा खो देना में बारूद के रहस्य को जानने की अपेक्षा अधिक पसद करूँगा । एक दूसरे स्थल पर स्विफ्ट ने मनुष्य को घोडे से भी अधम बताया है । गुलिवर का अश्वपति यह जानना चाहता है कि "मनुष्य नैतिक कारण से युद्ध लड सकता है, यह किस प्रकार सभव है । मनुष्य पशु की तरह खूँखार बनकर मनुष्य की हत्या करे, उसे अगहीन कर डाले, यह तो समझ मे आता है, किन्तु अपनी इस पाशव प्रवृत्ति को, अपनी हिस्र प्रकृति को वह युक्तितर्क द्वारा उचित सिद्ध करने और नैतिक दृष्टि से उसे गौरव प्रदान करने का प्रयत्न करे, यह तो किसी प्रकार भी समझ मे नही आता । सभ्य मनुष्य की युद्धप्रवृत्ति पर कितना तीक्ष्ण व्यग्य है ।

फ्रासीसी राज्यक्रान्ति के पूर्व फ्रास मे धर्म के नाम पर जो अत्याचार एव अनाचार फैले हुए थे, राजाओ की स्वेच्छाचारिता एव विलासिता के कारण साधारण जनता का जो उत्पीडन एव शोषण हो रहा था, उससे जाति का परित्राण करने के लिए एक ऐसे शक्तिशाली लेखक की आवश्यकता थी जो व्यग्य-विरूप द्वारा जाति के सुषुप्त चैतन्य को उद्बुद्ध कर दे, उसे चरित्रगौरव से गौरवान्वित कर दे । यह काम किया वालटेयर की अग्निमयी लेखनी ने । फ्रासीसी राज्यक्रान्ति के पथ को प्रशस्त करने, उसकी प्रज्वलित अग्निशिखा के लिये इधन जुटाने के कार्य्य मे रूसो और वालटेयर के लेखो ने कम सहायता नही की । अद्भुत प्रतिभा लेकर जन्मा था यह । आजीवन इसने साहित्य-देवता की आराधना की । एक दिन के लिये भी लेखनी को विश्राम नही दिया । हास्य

एव व्यग्य-विरूप के उज्ज्वल आलोक के साथ-साथ ज्ञानगरिमा से युक्त इसकी रचनाएँ सचमुच साहित्य की अमूल्य निधि है। क्या समाज और क्या राष्ट्र किसी भी क्षेत्र मे कपटता एव भण्डता के प्रति क्षमाशील बनना वह जानता ही नही था। समाज की दुर्बलताओ के विरुद्ध निष्ठुर बनकर इसने आघात किया है। इसकी वाणी मे सत्य लेलिहान शिखा की तरह भक-भक कर रहा है और लेखनी ज्वालामुखी की तरह अग्नि उद्गिरण कर रही है। अपने व्यग्य-विरूप रूपी विषाक्त बाणो का अनवरत प्रयोग करके इसने समाज के मर्म को, उसकी दुर्बलताओ एव भण्डताओ को, धर्म-पुरोहितो के अत्याचार एव औद्धत्य को बिद्ध करना शुरू किया। पुरोहितवर्ग तिलमिला उठा। उसने प्रलोभन दिखाकर इसे शान्त करना चाहा। किन्तु इस निर्भीक साहित्यिक ने सारे प्रलोभनो को ठुकराकर उस ईसाई-धर्म के विरुद्ध विद्रोह की घोषणा की, जो शैतानी और पागलपन से भरा हुआ था। पुरोहितो ने एक सोलह वर्ष के बालक का सिर इसलिए काट डाला कि उसने ईसामसीह की एक मूर्त्ति को तोड डालने का दु साहस किया था। धर्मान्ध पादरियो ने उसके मस्तक-विहीन शरीर को अग्नि मे डाल दिया और अग्नि के चतुर्दिक प्रदक्षिणा करते हुए पैशाचिक उल्लास प्रकट किया। इस बालक के हाथ मे वालटेयर की एक पुस्तक पायी गयी थी।

इस पुस्तक को भी अग्नि मे डाल दिया गया। वालटेयर के लिये धर्म के नाम पर यह अन्ध-पूजा, यह उन्मादना असह्य थी। उसने इस प्रकार की धर्मान्धिता के विरुद्ध अपनी क्षुरधार लेखनी का प्रयोग करना शुरू किया। कहानी, कविता, इतिहास आदि अनेक विषयो पर उसने रचनाएँ की। एक-एक पुस्तक क्या थी, मानो प्रज्वलित अग्नि की एक-एक चिनगारी जिसके ज्वालाजाल मे पडकर जीर्ण-पुरातन सस्कार एव अन्धविश्वास भस्मीभूत होने लगे। फ्रासीसी सम्राट् १६ वे लुई ने रूसो और वालटेयर की लेखनी के प्रभाव को स्वीकार करते हुए कहा था—

"Those two man have destroyed France" इस प्रकार व्यग्य एव विरूप को अस्त्र रूप मे ग्रहण करके फ्रासीसी जाति को नव चेतना से उद्‌बुद्ध करने के लिए अकेले वालटेयर ने जितना काम किया, उतना डान्टन और रोब्सपियर अपनी तलवार से भी नही कर सके ।

आधुनिक अग्रेजी साहित्य मे व्यग्य एव विरूप का तीक्ष्ण प्रयोग जितना बर्नार्ड शा ने अपनी रचनाओ मे किया है, उतना अन्य किसी लेखक ने नही । इसके साहित्य-रूपी तरकस मे भी व्यग्य-विष से बुझे हुए विषाक्त वाणो का अभाव नही । इसकी वाणी भी तलवार की तीक्ष्ण धार की तरह अचूक वार करती है, बिच्छू के डक की तरह मर्म पर आघात करती है । गार्डनर ने शा के व्यग्य के सम्बन्ध मे लिखा है—"शा की कटु लेखनी चाबुक की तरह हमारी पीठ पर चोट करती है। बिच्छू के डक की तरह उसके आघात होते है । किन्तु इन आघातो को हम कृतज्ञतापूर्वक सहन कर लेते है । शा हमारे मुँह पर ही हमारा मजाक उडाता है, हमारा शुष्क उपहास करता है, फिर भी हम रुष्ट नही होते । वह अपने नाटको मे हमारा व्यग्य-विरूप करता है । फिर भी उसके नाटको को देखने के लिये दर्शको की भीड लगी रहती है ।" राष्ट्र, समाज एव धर्म के सम्बन्ध मे जो प्रचलित धारणाएँ है, उनके विरुद्ध व्यग्य-बाण निक्षिप्त करना, उनके मूल पर कशाघात करना मानो शा ने अपने जीवन के व्रत रूप मे ही ग्रहण किया है । उसके जीवन का व्रत ही है भ्रान्त विश्वासो एव अन्ध-विश्वासो को चूर्ण-विचूर्ण करना, जैसा कि अपने 'मैन एन्ड सुपरमैन' नाटक मे उसने नायक टैनर के मुख से कहलवाया है—"I shatter creeds & demolish idols" शा के प्रारम्भिक नाटक 'कैन्डीटैट', 'यू नेवर कैन टैल', "John Bull's other Island" आदि मे हमे उसके व्यग्य का उज्ज्वल रूप देखने को मिलता है । वर्तमान समाज-व्यवस्था एव सभ्यता

के विरुद्ध शा ने लिखा है —"सभ्य मनुष्य का आज जो रूप हम अपनी आँखो के सामने देख रहे है, वह उसका आदिम बर्बर रूप है। जहाँ तक जीवन-यापन का सम्वन्ध है मनुष्य उसमे जरा भी प्रगतिशील नही हुआ है। दो सो साल पहले जिस रूप मे वह घर मे वास करता था, भोजन करता था, वैसा ही आज भी कर रहा है। किन्तु मृत्यु के कारबार मे वह वहुत आगे वढ गया है। नये-नये मारणास्त्रो का आविष्कार करके वह वन्य पशुओ की हिस्रता को भी मात कर रहा है। अपने मशीनगन, सबमेरिन और टारपिडो को लेकर उसने सारे ससार मे हत्या का उत्सव आरम्भ कर दिया है। धर्म को उसने ग्रहण किया है दूसरो से घृणा करने के लिए, विना विचार निर्दोष को निर्वासित करने के लिए उसने कानून को हथियार बनाया है। खुद परिश्रम न करके दूसरे के श्रम से उत्पन्न सामग्री का जो भोग करता है, उस निर्लज्ज परस्वापहारी व्यक्ति को सभ्य एव भद्र माना जाता है।" वर्तमान सभ्यता के विरुद्ध कितना मार्मिक, किन्तु कटु व्यग्य है यह! इस प्रकार का मर्म-भेदी व्यग्य अवश्य ही सामाजिक दुर्बलताओ के निवारण के लिए पुष्टि-कर औषधि का काम करता है। जैसा कि गार्डिनर ने लिखा है—"शा की रचनाएँ उस पोष्टिक दवा की घूँट की तरह है जो पीने मे तो बहुत तिक्त मालूम पडती है, किन्तु उसका असर बहुत ही स्फूर्तिवर्द्धक एव उत्तेजनाकारक होता है। वह हमारे मन को सारी कपटता एव भण्डता से मुक्त कर देता है। कुहासाच्छन्न वातावरण को स्पष्ट कर देता है।"

इगलेण्ड के आधुनिक लेखको मे अलडस हक्सले ने भी अपनी कुछ प्रारम्भिक रचनाओ मे व्यग्य का आश्रय ग्रहण किया है। अपने 'ऐटिक हेज' नामक उपन्यास मे उन्होने बडी खूबी के साथ वर्त्तमान युग की मूर्खताओ का मखौल उडाया है और उनका उपहासास्पद रूप हमारे सामने रखा है। उनकी 'द क्लैक्सटन' नामक कहानी व्यग्य का सर्वोत्तम नमूना है।

वर्त्तमान युग मे भी स्विफ्ट और वालटेयर जैसे लेखको की आवश्यकता है, जो अपने भीषण हास्य 'Terrible smile' द्वारा इस समय के राजनीतिज्ञो की कपटपूर्ण नीति, उनकी भण्डता और दुरगी चालो का भडाफोड इस ढग से कर दे कि लोग हँसते-हँसते लोट जायँ और साथ ही अपनी मूर्खताओ का भी उन्हे भान हो जाय । विश्वविख्यात फिल्म अभिनेता चार्ली चैपलेन के 'द ग्रेट डिक्टेटर' , फिल्म जिन लोगो ने देखा है, वे समझ सकते है कि 'डिक्टेटर' का वास्तविक स्वरूप किस प्रकार व्यग्य एव विरूप द्वारा दर्शको के सामने अत्यन्त प्रभावोत्पादक ढग से रखा जा सकता है । दस साल तक हिटलर ने जर्मन जनता के मन और कल्पना को किस प्रकार अपने प्रभुत्व द्वारा मोहमुग्ध कर रखा था और दभ, दर्प एव अभिमान से फूलकर किस प्रकार उसने अपनी आकाशस्पर्शी स्पर्द्धा का सारे यूरोप मे प्रदर्शन किया था, इसका जैसा विशद व्यग्यात्मक चित्रण इस फिल्म मे मिलता है वैसा अन्य किसी साहित्यिक रचना मे नही । हिटलर का विरूपात्मक चित्रण करके उसका जैसा तुच्छ एव हास्यास्पद स्वरूप इस कुशल अभिनेता ने अपने इस फिल्म मे उपस्थित किया वैसा आधुनिक युग के किसी भी लेखक ने अपनी रचना मे नही किया ।

आज हमारे देश के साहित्य मे इस प्रकार के व्यग्य एव विरूप की आवश्यकता है जिससे व्यग्य-रूपी दर्पण मे हम अपने जातीय चरित्र की दुर्बलताओ को, उनके उपहासास्पद रूप को देखकर स्वय अपने आप पर हँस सके । धर्म के नाम पर जिस अन्ध-विश्वास एव अन्ध-परम्परा की, गतानुगतिकता एव रूढिवाद की हम पूजा कर रहे है, आध्यात्मिकता के नाम पर जिस कापुरुषता एव भीरुता को आश्रय दे रहे है, सस्ती भावुकता के बल पर जिस प्रकार हम महान् कार्य्यो को सम्पन्न करने का दिवास्वप्न देख रहे है, उन सबके विरुद्ध तीक्ष्ण व्यग्य-वाण निक्षिप्त करके हमारी आँखो के सामने से मिथ्या-मोह का आवरण दूर कर दे,

ऐसा साहित्य आज कहाँ है ? देश के नर-नारियो को चरित्रबल की महिमा से महिमान्वित कर दे, हीनवीर्य्य जाति की भाव-प्रवणता, एव भीरुता का पर्दाफाश करके उसके अन्दर दुर्जय सकल्प एव प्रचण्ड कर्मोन्मादना भर दे और उसे इन बात का उद्‌बोधन करा दे कि जो जाति आध्यात्मिकता के नाम पर अनीति एव अत्याचार को मूक भाव से सहन करती है, प्रवलो के अन्याय एव औद्धत्य के विरुद्ध विद्रोह नही करती, उसकी अध्यात्म एव दर्शन-चिन्तना अत्यन्त उपहासास्पद है । जो जाति बात-बात मे अपने अतीत के गौरव की दुहाई देती है, किन्तु वर्त्तमान मे दाससुलभ अभिशप्त जीवन व्यतीत करने मे, दारिद्र्य एव अभाव की ताडना सहन करते हुए भी अपनी अकर्मण्यता एव जडता पर लज्जित नही होती, उस जाति के सर्वांग को व्यग्य एव विरूप के शरजाल से बिद्ध कर दे, ऐसी तीक्ष्णधार लेखनी धारण करनेवाला साहित्यिक आज कहाँ है ? जाति के सुषुप्त शौर्य्य को जागरित करके उसे वीर धर्म की दीक्षा देने के लिए आज ऐसे साहित्य का ही प्रयोजन है ।

कविता का भविष्य ? हाँ, कविता का भविष्य वर्त्तमान जगत् के अशात, कोलाहलपूर्ण, सघर्षमय वातावरण मे कविता का भविष्य क्या होगा, यह प्रश्न अनेक लोगो द्वारा उठाया जा रहा है । हमारे भौतिक जीवन की जटिलताएँ दिन-दिन बढती जा रही है, जीवन-सग्राम कठोर से कठोरतर होता जा रहा है, अपने सामाजिक एव बौद्धिक व्यक्तित्व सुरक्षित रखने मे हमे नित-नूतन समस्याओ का सामना करना पड रहा है, और इन सबका परिणाम हो रहा है हमारे स्थूल जीवन की प्रधानता, हमारे अन्तर का दैन्य एव हाहाकार, हमारे जीवन मे अध्यात्म-पक्ष का ह्रास एव भौतिक पक्ष की उन्नति । मनुष्य के नित्य के जीवन मे दुख, शोक, दारिद्र्य एव अभाव ज्यो-ज्यो बढते जा रहे है त्यो-त्यो वह अपने वास्तविक स्वरूप को—अपने अन्तर्जगत् को भूलता जा रहा है और नित्य के सघर्ष एव सग्राम के धूल और धुएँ से भरे हुए वातावरण मे भौतिक आवश्यकताओ के भार से उसकी आत्मा कुचली जा रही है । ऐसी स्थिति मे यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि कविता का भविष्य क्या होगा, क्योकि कविता का सम्बन्ध विशेष रुप मे मनुष्य के अन्तर्जगत् से, उसके हृदयावेगो से, उसकी भावनाओ एव सूक्ष्म रसानुभूतियो से है । मानव-सभ्यता के आदिम काल से ही मनुष्य की जिज्ञासा अनन्त के प्रति, रहस्यमय विश्व के प्रति रही है । उसकी यह जिज्ञासा जब तक बनी रहेगी, असीम एव अज्ञेय के प्रति जब तक उसका सधान चलता रहेगा तब तक भौतिक जीवन के साथ-साथ उसका आध्यात्मिक जीवन भी उसके लिए एक वास्तव सत्य बना रहेगा । इसलिए कविता का भविष्य क्या होगा, इस प्रश्न का उत्तर देने के पूर्व एक दूसरे प्रश्न पर विचार करना होगा ।

वह प्रश्न है, मानव-जाति का भौतिक एव आध्यात्मिक भविष्य क्या होगा ? क्योकि कविता का सम्बन्ध सपूर्ण मानव-जीवन के साथ अविच्छेद्य रूप मे है । एक का भविष्य दूसरे के भविष्य के ऊपर निर्भर है । कवि मनुष्यो के बीच मे ही जीवन धारण करता है, सामाजिक जीवन से ही वह प्राणरस ग्रहण करता है और समाज मे रहकर ही अपने आत्म-विकास का मार्ग प्रशस्त करता है । वह मनुष्य के मनोवेगो एव भावनाओ से जितना घनिष्ठ रूप मे परिचित होता है उतना दूसरा कोई नही । उसके रचना-मुकुर मे हम मनुष्य की आशा-निराशा, हर्ष-विषाद, हास्य-रुदन, आनन्द, दु ख-शोक आदि को प्रतिफलित देखते है । उसका आवेदन विश्वजनीन होता है । वेदना के अश्रु से सिक्त उसके गान सीधे मानव-हृदय को स्पर्श करते है । मानव-हृदय के सहारे ही उसका कारवार होता है । वह पीडा एव वेदना मे जिन अनुभूतियो को प्राप्त करता है उन्हे अपने गान द्वारा हमारे मर्म तक पहुँचा देता है । जैसा शेली ने कहा है—"They learn in suffering what they teach us in song" वह केवल गायक ही नही होता, भविष्यवक्ता भी होता है । वह भविष्य का स्फटिक एव वत्तमान का दर्पण होता है । वह कल्पना के तृतीय नेत्र से अनागत भविष्य के ज्योतिर्मय रूप को देखता है और उसका आगमनी गान गाना है । इस पृथ्वी पर के अन्य मनुष्य जिस समय रात्रि के घोर अधकार मे निद्रालीन रहते है, उस समय वह नूतन प्रभात का दर्शन करता है और उसके आगमन का गान उन लोगो को सुनाता है जिनके कान उन गानो के सुनने मे अब तक असमर्थ रहे है । उसकी कविता मे जो सत्य सदेश निहित होता है उसकी उपलब्धि बहुत थोडे लोग उसके जीवनकाल मे कर पाते है । किन्तु उसके महाप्रस्थान के बाद जब उसकी कविता का वास्तविक मर्म लोग समझ पाते है तब उन्हे उसके पारायण मे सच्चा आनन्द मिलता है और उसमे जो निहित अमर सदेश होता है उसकी उन्हे उपलब्धि होती है । सारी दुनिया उस सत्य सदेश को सुनने के लिए विकल हो उठती है । विकल विश्व को विवश

होकर कवि की वाणी को ध्यानपूर्वक सुनना पडता है—

"Such harmonious madness
From my lips will flow;
The world shall listen them
As I am listening now"—Shelley.

इस प्रकार की कविता "व्यथापीडित एव वेदनाविकल मानव-हृदय के घावो के लिए दैवी मरहम का काम करती है, वह भौतिक जीवन के दु ख-शोक एव दैन्य-हाहाकार से मानवात्मा को बहुत ऊँचा उठा देती है और विभिन्न रूपो मे उसकी कला प्रोज्ज्वल प्रकाश बनकर हमारे गन्तव्य मार्ग को आलोकित तथा हमारे जीवन को महिमामण्डित कर देती है ।" कविता का सम्बन्ध केवल बुद्धि के साथ ही नही, भावना के साथ भी होता है । कवि केवल युक्तितर्क द्वारा ही नही, अन्तर्प्रेरणा द्वारा भी परिचालित होता है । बुद्धि का सम्बन्ध हमारी पचेन्द्रियो से होता है और ये पच ज्ञानेन्द्रियाँ हमारे स्थूल जगत् के लिए ही आवश्यक होती हैं । इसलिए बुद्धि का आधिपत्य हमारे भौतिक जगत् पर ही हो सकता है, हमारे अन्तर्जगत् पर नही ।

जातियो और सभ्यताओ का उत्थान-पतन लगा ही रहता है । न मालूम कितनी मानव-सभ्यताएँ विस्मृति के गर्भ मे विलीन हो चुकी हे । कितनी जातियो का अस्तित्व तक निश्चिह्न हो चुका है । किन्तु सृष्टि की धारा अब भी अक्षुण्ण रूप मे चल रही है । मानवता का अविरल स्रोत काल के अनन्त प्रवाह के बीच अब भी प्रवाहमान है । इसी अनन्त प्रवाह के बीच कविता अतीत के साथ वर्त्तमान का सयोग-सूत्र स्थापित करती है और भविष्य का स्वप्न देखती है । भविष्य का स्वप्न ही नही देखती, बल्कि उस अदृश्य भविष्य को वह रूप भी प्रदान करती है । उसके राज्य मे विभिन्न युगो के रूप मे काल के विभाजन का कोई अर्थ नही होता । वह जीवन का ही नामान्तर होता है—अतीत, वर्तमान और भविष्य का वह जीवन । जीवन का यह गान ही, आत्मा का यह सगीत ही कविता

की अमूल्य सम्पत्ति है । इस सम्पत्ति का अधिकारी मात्र कवि ही है । वही इस सम्पत्ति का उपभोग अनादि काल से करता आ रहा है । अन्तर्दर्शन द्वारा वह आत्मजगत् मे अखिल विश्व को प्रतिविम्बित देखता है और इस आत्मदर्शन मे ही उसे वे दिव्य अनुभूतियाँ प्राप्त होती है जिनके कारण वह जाति-विशेष का कवि न होकर मानवता का महान् कवि बन जाता है और उसकी वाणी एक जाति मे दूसरी जाति, एक पीढी मे दूसरी पीढी, क्रमिक रूप मे मुखरित होती हुई, अमर बन जाती है ।

इस प्रकार की कविता जाति-वर्ण-धर्म-निर्विशेष सपूर्ण मानव-जाति की बहुमूल्य सम्पत्ति, उसकी परम्परागत पैतृक निधि के रूप मे होती है, जिसमे वह सुख-दुःख मे शोक एव उत्सव मे सान्त्वना एव अनुप्रेरणा प्राप्त करती है । उसका उत्स मानवप्रेम होता है, उसका प्राणधर्म विश्व-मानवता होता है । इसलिए विभिन्न जातियो के विभिन्न—भाषाभाषी लोग समान रूप से उसके उदात्त सगीत का उपभोग करते है और कुछ क्षणो के लिए एक प्रकार की दिव्योन्मादना मे उन्मत्त हो जाते है । इसलिए जब तक मानव-जाति मे महत्त्वाकाक्षा, दिव्य उदात्त भावना, कल्पना एव भाव-प्रवणता बनी रहेगी तब तक कविता का भविष्य चिर-स्थायी रूप मे उसके भाग्य के साथ सम्बद्ध रहेगा ।

फिर भी यह निश्चित रूप मे नही कहा जा सकता कि निकट या सुदूर भविष्य मे कविता के विभिन्न स्वरूप, उसकी विशिष्टताएँ क्या होगी । उसके बौद्धिक एव आध्यात्मिक कलेवर का अभिनव रूप क्या होगा । इस सम्बन्ध मे कोई ऐसी कसौटी नही है जिससे हम कविता के भविष्य के सम्बन्ध मे भविष्यवाणी कर सके । इस समय मानव-समाज की जैसी प्रवृत्तियाँ है, उसका जो आर्थिक एव औद्योगिक जीवन है, कल-कारखानो का कर्मव्यस्त जीवन, मशीनो की घरघराहट, इन सबके साथ कविता का क्या सम्बन्ध होगा और वह इन सब प्रवृत्तियो

को कहाँ तक आत्मसात् कर सकेगी, यह निश्चित रूप मे बताना कठिन है, क्योंकि हम यह नही जानते कि समाज का विकास किस रूप मे होगा। विज्ञान की उन्नति के फलस्वरूप स्थान एव दूरत्व का व्यवधान जिस क्षिप्र गति मे दूर होता जा रहा है उसमे दुनिया का रूपरग, आकृति-प्रकृति क्या होगी, सर्वसाधारण जनता की सुखसमृद्धि एव शिक्षा-सस्कृति मे कहाँ तक उन्नति होगी, इसका ठीक-ठीक ज्ञान हमे नही हो सकता। इसलिए हमारी भविष्यवाणी का आधार चाहे कितना ही यथार्थ क्यो न हो, फिर भी भविष्य मे ऐसी कितनी ही घटनाएँ घटित हो सकती हैं जिनमे उसका खण्डन हो जाय और समाज का सपूर्ण गठन, उसका भौतिक स्वरूप ही परिवर्त्तित हो जाय और हमारे वर्त्तमान दष्टिकोण को निरर्थक सिद्ध कर दे। इसके सिवा यह भी तो स्पष्ट रूप मे नही कहा जा सकता कि सामाजिक परिवर्त्तन एव वैज्ञानिक सफलताएँ जिस रूप मे होगी उसी रूप मे कविता का भी विकास होगा।

इसमे सन्देह नही कि परिस्थिति का प्रभाव कविता के ऊपर विशेष रूप मे पडता है। आवेष्टन के प्रभाव से सर्वथा मुक्त केवल कल्पना के सहारे शून्य-लोक मे कविता का अस्तित्व नही हो सकता। आखिर कल्पना के लिए भी कोई-न-कोई आधार चाहिए ही। आज की कविता मे हम परिस्थिति का प्रभाव विशेष रूप मे पाते हैं। उसमे किसानो और मजदूरो के जीवन की करुण रागिनी प्रतिध्वनित होती है, सर्व-हारा का गान मुखरित होता है, मशीन-युग का कर्मचाञ्चल्य उच्छलित होता है। आज का साहित्य किसी विशेष मतवाद के प्रचार का साधन बनकर अभिनव समाज के निर्माण मे भाग ले रहा है। वह प्रत्यक्ष रूप मे प्रचार को आश्रय दे रहा है। यहाँ तक कि उसकी परिभाषा हो रही है—"All great art and literature is propaganda" सोवियट रूस मे जिस नूतन साहित्य की सृष्टि हो रही है, वह प्रत्यक्ष रूप मे प्रचारमूलक है। वहाँ अभिनव मानव-समाज का जो निर्माण हो

रहा है, उसमे कविता, कला, विज्ञान आदि अपना-अपना पार्ट अदा कर रहे है। समाज-निर्माण तथा समाजवादी मनोभाव के प्रचार की प्रयोजनीयता ध्यान मे रखकर वहाँ कविता लिखी जाती है, गल्प, उपन्यास और नायको की रचना होती है। अपनी रचनाओ मे वहाँ के कवि और कलाकार साम्यवाद के आधार पर गठित नूतन मानव-समाज को मूर्त्त रूप दे रहे है, उसकी जययात्रा का मगलगान गा रहे है। जीवन के साथ ओतप्रोत भाव से गठित होने के कारण ही वहाँ के साहित्य मे कर्ममय जीवन एव ज्योतिर्मय भविष्य के रगविरगे चित्र देखने को मिलते है, एक नूतन जीवनदर्शन का स्निग्धोज्ज्वल आभास मिलता है। उसमे जीवन के सुन्दरतर विकास के आलोक-स्पन्दन का, मुक्ति के आनन्दोल्लास का आह्लादजनक अनुभव होता है। केवल सोवियट रूस मे ही नही, इगलैण्ड, फ्रास, स्पेन और अमेरिका के भी बहुत-से तरुण कवि एव साहित्यिक, राजनीतिक आदर्शो एव मतवादो का दृढतापूर्वक पक्षसमर्थन कर रहे है और अपनी कृतियो को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मे प्रचार का शक्तिशाली साधन बना रहे है। यह सच है कि उनकी रचनाओ मे अनुभूति की गभीरता की अपेक्षा सामयिक जीवनप्रवाह की उत्तेजना का पुट कुछ अधिक होता है और कही-कही वे अनुभूति की सीमा का अतिक्रमण भी कर जाती है, फिर भी उनमे सवेदनशीलता होती है, जीवन का गतिवेग होता है। कुछ लेखको ने तो राजनीतिक आदर्शो को कविता के उच्चासन पर प्रतिष्ठित कर दिया है।

किन्तु समसामयिक अवस्थाओ एव परिस्थितियो द्वारा इस प्रकार प्रभावित होने पर भी यह नही कहा जा सकता कि कविता के लिए यह आवश्यक है कि वह परिस्थिति की प्रतिच्छाया हो। कवि जिन घटनाओ को अपने नित्य के जीवन मे घटित होते हुए देखता है और उनके तथ्यो एव रूपो के जिस परिवर्त्तनशील जाल से उसका मन आच्छन्न रहता है, उसकी महिमा अथवा आतक का वर्णन करने के लिए वह

बाध्य नही है । बाह्य जगत् के सघर्ष एव कोलाहल से, समाज की बहु-मुखी कर्मप्रचेष्टाओ से, अपने को विच्छिन्न रखकर कवि कला के कमल-वन मे एकान्त आश्रय भी ग्रहण कर सकता है जहाँ सक्रिय जीवन की हलचलो मे सौन्दर्यदेवता अपनेको स्वतन्त्र रखता है । इस प्रकार समाज की गतिशीलता के विरुद्ध पलायनवृत्ति भी कविता मे देखी जाती है ।

ऐसा भी तो देखा जाता है कि शातिकाल मे महान् कवियो ने युद्ध-काव्यो की अथवा युद्धकाल मे गीतिकाव्यो एव ग्राम-गीतो की रचना की है । गत महासमर मे बहुत-से कवियो ने रणभूमि मे युद्ध की भय-करताओ का प्रत्यक्ष अनुभव किया था, स्वय युद्ध मे भाग लिया था, उसकी विध्वस-लीलाएँ देखी थी, फिर भी उनकी कविताओ मे हिसा, रक्तपात एव युद्ध की विभीषिका को बहुत कम स्थान मिला है । इससे हम केवल इतना ही अनुमान कर सकते है कि साहित्य का झुकाव कभी वास्तववाद की ओर होता है, कभी वह वास्तववाद से अपनेको दूर रखता है । कभी उसमे लेखक के व्यक्तिगत और कभी सामूहिक हृदयावेग की अभिव्यक्ति होती है । किन्तु इससे कविता के भविष्य के सम्बन्ध मे कोई निश्चित भविष्यवाणी नही की जा सकती ।

सच तो यह है कि परिस्थिति की प्रतिक्रियाओ का जैसा प्रभाव कवि के मन पर पडेगा, उसके अनुसार ही उसके गान होगे । अपने आवेष्टन को वह सानुकूल समझेगा या प्रतिकूल , अपने पडोस के लोगो और घटनाओ को समझने की जैसी अनुभूतिक्षमता उसमे होगी, उसके मन मे प्रेम अथवा काम का जैसा घात-प्रतिघात होगा, उसके ऊपर ही उसकी कविताओ का स्वरूप बहुत-कुछ निर्भर करेगा, क्योकि परिस्थिति का प्रभाव प्रत्येक कवि के जीवन पर भिन्न-भिन्न रूप मे पडता है, उसकी धारणाएँ व्यक्तिगत होती है । इसलिए उसके गान भी व्यक्तिगत ही होगे । वह अपने ढग से ही अपने सुख-दु ख एव हर्ष-विषाद का शाश्वत गान गायगा । उसके गानो पर उसके व्यक्तित्व की, उसके सवेदनशील

हृदय की गहरी छाप अवश्य होगी, जो उसकी रचनाओं को एक विशिष्ट रूप प्रदान करेगी ।

कविता का वाह्यरूप, उसकी शैली, छन्दोरचना आदि उसके लिए स्थायी महत्त्व की वस्तु नही होती और न ये सब बाते उसे चिरन्तन रूप प्रदान करती है । उसे चिरन्तन रूप प्रदान करनेवाली वस्तु होती है विभिन्न रूपों मे सूक्ष्म मानवीय भावनाओं का प्रकाश । वे मानवीय भावनाएँ, जो मानवता एव उसकी प्रतिभा को गौरवगरिमा के उच्चतम शिखर पर आरूढ कर देती है—जो भावनाएँ मनुष्य की विचार-दृष्टि को व्यापक, उसके हृदय को उदार एव उसकी अनुभूतियों को विशाल बना देती है और उसके व्यक्तित्व को निजत्व की क्षुद्र परिधि से बाहर निकालकर अखिल लोक मे परिव्याप्त कर देती है । मानव-हृदय की गहन वेदनाओं की जितनी ही सूक्ष्म अभिव्यक्ति कविता द्वारा होगी उतनी ही वह कविता हमारे मर्म को स्पर्श करनेवाली तथा हमारी मनोवीणा के तारों को झकृत करनेवाली होगी । उसके सगीत मे प्राणों की रागिनी बज उठेगी, उसके सौन्दर्य्य मे आत्मा का दिव्य प्रकाश प्रस्फुटित और उसके छन्द के एक-एक ताल मे, उसके एक-एक सुर मे जीवन का स्पन्दन सजीव हो उठेगा ।

किन्तु इसका यह अर्थ नही कि कविता मे शैली, छन्द, सगीत आदि का कोई महत्त्व ही नही रह जायगा । वाणी एव छन्द मे जो सुर-सामञ्जस्य, जो सुरीलापन होता है उसके द्वारा ही तो कविता के ओज को पूर्ण रूप से हृदयङ्गम किया जा सकता है । सभी प्रकार की कलात्मक कृतियों मे, चाहे वह कविता हो या शिल्प, उसके भाव को प्रतीक से विच्छिन्न करके ग्रहण नही किया जा सकता । दोनों का अन्योन्याश्रय सबध है । फिर भी भविष्य की कविता मे सगीत का रूप और भी निखर उठेगा अथवा वह गद्य के गतिवेग को लेकर आगे बढेगी, यह कहना कठिन है ।

कविता का भावी स्वरूप, उसकी बाह्य आकृति-प्रकृति चाहे कुछ भी क्यो न हो, किन्तु भविष्य का वही कवि काल के विध्वसी हाथो मे बचकर जीवन का स्रष्टा बन सकेगा जिसमे मनुष्य के मनुष्यत्व की महिमा को, उसके आध्यात्मिक सौन्दर्य को समझने की असीम क्षमता होगी—जो जीवन मे जो कुछ कुरूप, कदर्य्य एव असुन्दर है उसे सहन नही कर सकेगा—जो जीवन को क्षुद्र मे बृहत् की ओर, साधारण से महान् की ओर एव असुन्दर से सुन्दर की ओर ले जायगा—जो अपने मन मे एक बलिष्ठ आशावाद धारण करके मानवजाति के गौरवोज्ज्वल भविष्य मे, मानव-सभ्यता की गतिशीलता मे विश्वास करेगा और भावी काल का सुनहला सपना देखेगा। उसकी कविता मे मनुष्य के आत्मिक सौन्दर्य्य की प्रतिच्छवि प्रस्फुटित होगी, उसके अन्तर मे दैन्य नही रह जायगा। इस अतर के दैन्य के कारण ही तो आज के अधिकाश मनुष्यो मे इतनी नैतिक कुरूपता दिखाई पड रही है। इस नैतिक कुरूपता एव आध्यात्मिक भीरुता के कारण ही तो युद्ध की विभीषिका मे उत्पन्न महानाश मे मानव-सभ्यता एव सस्कृति की चरम दुर्गति हो रही है। मानव-सभ्यता एव सस्कृति को इस चरम दुर्गति से बचाकर मनुष्य को आत्म-प्रतिष्ठ, कवि के सिवा, दूसरा और कौन कर सकता है ? विधाता की ओर से यह दैवी शक्ति उसे ही प्राप्त है। वही अपने आदर्शवाद के द्वारा, अपनी उदात्त मानवीय भावनाओ के द्वारा मानव-मन को मुग्ध कर सकता है, अपनी कविताओ द्वारा नैतिक शक्ति एव आध्यात्मिक सौन्दर्य की प्रखर प्रकाश-किरणे विकीर्ण करके मानव-मन के गह्नतम प्रदेश को प्रोद्भासित कर सकता है। कोई भी महत् विचार, कोई भी उदात्त मानवीय भावना व्यर्थ नही होती। उसका कोई भी प्रकाश मानवता को आलोकित किये बिना निर्वापित नही होता।

भविष्य मे कविता की यही प्राणशक्ति होगी और यही प्राणशक्ति (Life Energy) उसे अमरत्व के सिहासन पर समासीन करेगी।

मानवात्मा का प्रकाश, मानव-जीवन का गतिवेग, मानव-चरित्र का शील एव सौन्दर्य उसमे प्रतिफलित होगा । वह भविष्य की न होकर अनन्त काल की होगी । उसके बाह्य रूपरग मे जो परिवर्त्तन होगे केवल उनका ही पूर्वाभास हमे मिल सकता है और उसके भावी स्वरूप की हम कल्पना भर कर सकते है । किन्तु उसका मौलिक रूप तो समस्त परिवर्तनो के बीच भी अक्षुण्ण बना रहेगा । मानव-समाज एव मानव-सभ्यता को अभिनव रूप प्रदान करनेवाले जितने आन्दोलन दुनिया के भिन्न-भिन्न देशो मे होगे, उनके परिणामो से वह तत्त्व ग्रहण करके, उन्हे आत्मसात् करके अपनी प्राणशक्ति को पुष्ट और नव-नव सृष्टि द्वारा मानव-मन को सुसस्कृत तथा मानव-सभ्यता को आनन्द एव प्राचुर्य्य के बीच प्रतिष्ठित करेगी ।